लालबहादुर शास्त्री

लालबहादुर शास्त्री
मेरे बाबूजी

प्रदीपकुमार : सम्पादक-निदेशक

पूर्वोदय प्रकाशन
स्वत्वाधिकारी : पूर्वोदय प्रा० लि०
7/8 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

लालबहादुर शास्त्री
मेरे बाबूजी

सुनील शास्त्री

समर्पित,
भारत के
जवानों
और
किसानों को

आशीष

समय कितनी जल्दी बदलता है। जब बच्चे छोटे थे, हमने कभी आज के दिनों के बारे में नहीं सोचा था, लेकिन उस समय शास्त्री जी के काम को देखकर हम इतना जरूर जानती थीं कि एक दिन ये देश में बड़े ओहदे पर होंगे और यही सोचकर हमने अपने हर काम का नियोजन किया, जिससे कोई कभी भी शास्त्री जी के नाम पर अंगुली न उठा सके। चाहे हम जैसी भी हालत में रहे, हमने इसका ध्यान रखा। यह सीख हमें सासजी से मिली जो देश के काम में उनसे भी दो कदम आगे थीं।

आज हमारे बेटे भी राजनीति मे हैं और सुनील जब-तब अपनी दिक्कतों और उलझनों के लिए सलाह-मश्विरा करता ही रहता है—हम उसे वही सब बताती हैं जैसे हम शास्त्री जी से बतकही करती रहीं। उन सब बातों की काफी कुछ झलक आपको सुनील की इस आत्मकथाई किताब में जहां-तहां संजोई दिख जायेंगी—वह सब हमारे घर का सच है जिसे शास्त्री जी ने हम सब, और देश के साथ भोगा है। उस सबको सुन-देखकर आपके मन में जाने कितने सवाल उठेंगे—वह आपके लिए, देश के लिए, भले की बात होगी।

हमें खुशी है कि देश आज भी शास्त्री जी को याद करता है। उनके 'जय जवान जय किसान' की जगह लोगों के मन में है—हमारे लिए तो इतना ही थोड़ा-बहुत कुछ है, आगे हमारा आशीर्वाद है कि सुनील जिस लगन से यह सब कर रहे हैं, अपने बाबूजी की अधूरी बातों को आगे बढ़ाने की ठाने हैं उसमें सुफल होवें।

10 जनपथ, नई दिल्ली
11 जनवरी, 1988
(शास्त्री जी की पुण्य-तिथि)

रक्षा मन्त्री, भारत
MINISTER OF DEFENCE
INDIA

प्रस्तावना

श्री सुनील शास्त्री की यह पुस्तक 'लालबहादुर शास्त्री, मेरे बाबूजी' पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री को एक प्रतिष्ठित स्वतन्त्रता-सेनानी, कुशल मन्त्री और लोकप्रिय प्रधान मन्त्री के रूप में देश का जन-जन जानता है। लेकिन उनके व्यक्तित्व की गरिमा को, जो मानवीय गुणों पर आधारित थी, पूरी तरह वही जान पाये हैं जिन्हें उनके निकट रहने का सौभाग्य मिला। मैं उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से रहा। इस पुस्तक ने उनका वह वैभवशाली व्यक्तित्व मेरे स्मृति-पटल पर फिर से उभारा है।

श्री लालबहादुर शास्त्री जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में अब तक जितना छप जाना चाहिए था उतना नहीं छपा है। इस दिशा में श्री सुनील शास्त्री का यह एक उल्लेखनीय प्रयास है। यह पुस्तक पाठकों के अतिरिक्त विचारकों और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी और लाभदायक सिद्ध होगी। आशा है पाठकों द्वारा इस पुस्तक का स्वागत होगा।

"आज देश के सामने सबसे बड़ा प्रश्न देश की एकता और उसकी दृढ़ता का है। जब भी देश में बड़े संकट आये हैं सारा मुल्क एक चट्टान की तरह मजबूती से खड़ा हुआ है, इसने हमें बल दिया है क्योंकि हम इससे अनुभव करते हैं कि बाहर जो मतभेद और विभिन्नताएं दिखाई पड़ती हैं उसके नीचे हम सबका हृदय एक है और हम सभी एक सुनहरे धागे से बंधे हुए हैं।···मैं जानता हूं कि मेरा उत्तरदायित्व बहुत बड़ा और गम्भीर है। वह भार मुझे विनम्र रहने के लिए विवश करता है। मैं अपने देश की जनता के प्रति अपना प्रेम तथा आदर प्रकट करता हूं और इतना ही कह सकता हूं कि जितनी मेरी शक्ति है उसे मैं पूरी तरह उसकी सेवा में लगाऊंगा···"

11 जून 1964

—लालबहादुर शास्त्री

(स्वर्गीय प्रधानमंत्री का देश के नाम संदेश)

मैं स्वयं भी मानता हूं कि हमारी जनता में उत्साह और लगन है और हमारे लोग देश को मजबूत बनाने के लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने के लिए हमेशा तैयार हैं। मेरी यह मान्यता कभी-कभी मेरे पैरों तले की जमीन खींच लेती है और मुझे लगता है कि जो भार मुझे मेरे कंधे पर जनता ने दिया है, उसे निभाने के लिए मुझे जो माहौल चाहिए, वह नहीं मिल पा रहा। इस माहौल को अपने काम के माकूल बनाने के लिए मुझे कितना सारा समय, कितनी सारी ताकत खर्च करनी पड़ती है—उससे मन उचाट हो गया है। मेरा यह उचाट मन जो घुटन महसूस करता है—प्रश्न करता हूं कि क्या यह आज की सक्रिय राजनीति की देन है ?

बिना सक्रिय राजनीति के गले में बांधे आज यह अंदाज नहीं लगाया जा सकता कि किस-किस तरह की अजूबी और अनोखी कठिनाइयों का सामना करना पडता है। किस तरह अपने मन की परतों तले अपने आप में हजारों चीजें, हजारों इच्छाओं को दबाकर रखना पडता है। इस सबसे जो घुटन मन में उठती है, जो मंथन होता है, तब डर लगता है कि कहीं वह अपने को पलायनवादी न बना दे—फलस्वरूप जूझने के लिए कमर कसनी पड़ती है। उस सबके बावजूद एक जीवंत जीवन जीना लोहे का चना चबाना जैसा है, फिर भी आप उफ नहीं कर सकते और आज की राजनीति में मुंह भी नहीं खोल सकते, कलेजा खोलने, मन बांटने की बात तो बहुत दूर की बात है। परिस्थितियां कभी शेर हो जाती हैं और उत्साह में आप उस पर सवारी कर तो बैठते हैं पर नहीं जानते कि उतरा कैसे जाये ? उस समय याद आती हैं बुजुर्गों की बातें, घर की बीती घटनाएं। इंदिरा जी के साथ बिताये गये क्षण, वे ही सब रास्ता बताते हैं। इमरजेंसी के दौरान इन्दिरा जी को भी महसूस हुआ था कि अचानक एक खूंखवार शेर की सवारी उन्होंने कर डाली है और परेशानियां इतनी बढ़ गयीं कि उस सवारी से उतरने का रास्ता नहीं दिखता। लेकिन शेर पर चढने वाला शेर से कहीं अधिक अक्लमंद होता है और वह अपने बुद्धि और विश्वास के बल पर सच का सहारा ले सफल होता है। यह उदाहरण बल देता है।

मन का सच एक अनोखी नियामत है जो केवल इंसान के बूते की बात है। वह कोरा नितांत आत्मसच ही होता है, जिससे आप को

बल मिलता है। इस बल को पाने के लिए जूझना पड़ता है और उस जुझारू लड़ाई में आपके काम आते हैं आपके आदर्श, आपका संकल्प और आपकी सुचिता। और सौभाग्य से ये तीनों मुझे बाबूजी से, मेरी मां से और इन्दिरा जी से विरासत में मिली हैं। इनके बल पर ही मैंने कितने ही मसले हल किये हैं और हमेशा अपने को साधारण जन-मानस के निकट पाया है। मेरी शक्ति ही वह जन-मानस है जिसके बीच मैं बार-बार जाता हूं और उनका स्नेह, उनका प्यार, उनका सौहाद्र ही मुझे आज तक इस स्थिति में ले आया है जहां मैं हूं।

लेकिन दुख हुआ—एक इतने बड़े प्रदेश का एक वरिष्ठ मंत्री पद संभालते हुए भी मैं वह करने के लिए स्वतन्त्र नहीं रह गया, जो जन-मानस की भलाई के लिए था। वह सारी कल्पनाएं जिसके लिए मैं ठोक-पीट कर बनाया गया, वे सारी मर्यादाएं जो मेरे जीवन को संवारती-संजोती हैं, उन पर प्रतिबंध एक आत्म-चुनौती की तरह सामने आ खड़ा हुआ। जितने बड़े प्रश्न होते हैं उतनी ही बड़ी जोखम आपको उठानी पड़ती है और वह आप ही हैं कि आप उस जोखम से उबरते हैं। कोशिश मेरी भी यही है।

जनवरी सन् 1987 से, सक्रिय राजनीति में बरसों रहने के बाद, यह महसूस होने लगा कि वर्तमान समय मेरी मन:स्थिति के बिलकुल विपरीत होता जा रहा है। जिस आंच और लोहे का मैं बना हूं उसे कम करने की, उसे दबाने की, बदलने की कोशिश की जा रही है। राजनैतिक हस्तक्षेप, पल-पल पर बाहरी दबाव—सब-कुछ मुझे तोड़ने की सक्रिय साजिश जैसा ही है। मुझे एक ऐसी घुटन की अवस्था में डाला जा रहा है जहां से मेरे सारे राजनैतिक जीवन की ही इतिश्री हो जाये। मैंने कभी भी तोड़-जोड़ की प्रकृति का मानस नहीं चुना। हमेशा मेरा जीवन रचनात्मकता की ओर ही उत्मुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति के तहत लगभग छह-सात महीने जिस संड़ांध और गिल-गिली राजनीति से परिचित हुआ उससे मुक्ति पाने का एक ही रास्ता सामने आया और वह आया 20 जुलाई, सन् 1987 को।

मैंने अपने मुख्यमंत्री को, जो कि मेरे जीवन के इस क्षणिक नाटक के मुख्य पात्र, सूत्रधार, जो भी आप कहें उनको, अपना इस्तीफा पेश कर दिया कि मैं उस सारे का सहभागी नहीं हो सकता जो मेरी

मानस, मेरी प्रकृति और आत्म-सत्य के खिलाफ है।

यहां तक पहुंचने की कहानी तो आपको आगे चलकर मालूम हो जायेगी, लेकिन यहां अभी केवल इतना ही कि—

चेक बुक के पन्ने
पीले हों या लाल
हर सच्चा इंसान
बिकाऊ नहीं है!

ये पंक्तियां जाने कब कहां पढ़ी थीं। पर मेरा मन उस कवि के प्रति समर्पित हो उठा। अपनी मां को कैसे समझाऊं, अपने भाई को कैसे अपने मन का अंश पेश करूं, जहां मैंने बाबू जी की दी धरोहर सहेज रखी है। राजनीति से अलग होकर राजनीति में पगे और पले होने के कारण याद आये पिछले कुछ दिन, जो इस तरह से मानस-पटल पर गुजरे क्योंकि अपनी सारी स्वतन्त्रता, सारी छूट और सुचिता के बावजूद आपको स्वीकार करना होगा कि जीवन के कितने ही पल, कितने ही निर्णय आपके बस के नहीं होते। उनमें आपका, आपकी स्थिति का, आपके परिवेश का बहुत बड़ा हाथ होता है जो आपके लिए रास्ता तय करता है।

आपको बताऊं, मेरा नाम सुनील है। वह एक कहानी है जिसे विधाता ने मेरे हाड़-मांस के ऊपर लिख छोड़ी है।

मुझे उस दिन बड़ा ही अचंभा हुआ, जब मैंने अपने लखनऊ के मकान में उस आदमी को देखा, जिसे मैं अक्सर, अपने घर के वाहर फाटक के अंदर आते-जाते अनायास सड़क पर जब-तब देखा करता था।

वह अधिक उम्र का व्यक्ति एक बोटीवाला, जाड़ा-गर्मी-बरसात में, जाने जब-कब मुझे दिख जाया करता था। वह अपनी एक बहुत ही पुरानी साइकल पर दूध की भारी-भरकम बाल्टियां लटकाये मेरे घर के सामने से गुजरता और उसे देख मैं सोचता : यह उम्र इसकी इस तरह कठिन जिन्दगी बिताने की तो नहीं है? पर जरूर कोई-न-कोई फांसी का फंदा अभी भी इसके गले में पड़ा है, जो इसे इस तरह की मेहनत और मशक्कत करने को मजबूर करता है! और वह है कि जव भी मुझसे दो-चार होता है, चाहे मैं मोटर में हूं, या कि पैदल घूमने

निकला हूं, उसको पाता हूं, वह उलटकर मुझे देखता है और मैं एक जोड़, एक लगाव, एक अनोखा अपनापन महसूस करता हूं। क्यों करता हूं, मन सवाल करता है ?

उन दिनों मां की आंख का ऑपरेशन हुआ था। वे मेरे साथ लखनऊ में थीं कि एक दिन मैं सुबह ऑफिस के लिए निकल ही रहा था कि आंगन में वह आदमी, वही दूधवाला खड़ा दिखा। उसके हाथ में कटोरा था। उसके हाथ से कटोरा लेते हुए अम्मा उससे बात कर रही हैं। मैं अम्मा की बात सुनने, और मेरी उपस्थिति से दखलंदाजी न हो, मैं आड़ में हो गया।

सुनता हूं, वह अम्मा से कह रहा है—आपकी आंख के ऑपरेशन की बात सुन, सोचा आपको अपने हाथों बना घी और मक्खन दे आऊं। आपकी आंखों को फायदा करेगा। आप जल्दी-से-जल्दी अच्छी हो जायें—यही सोचकर मैं आया हूं !

मेरा मन भर आया। निष्काम कर्म की इससे अधिक और क्या व्याख्या हो सकती है। और देना, भेंट देना इससे अधिक उपयुक्त क्या हो सकती है !

प्रश्न उठ पड़ा था—यह रहस्यमय व्यक्ति है कौन ? जो अनजाने में अपनी शक्ति, अपनी कड़ी मेहनत, अपनी लगन के कारण मेरे अंतः-मन से नाता जोड़ बैठा है और जबरन मेरे मन के आंगन में घुस आया है।

और आज वह बरबस मेरे घर के आंगन में खड़ा बतिया रहा था। मैं जानना और पूछना चाहता था कि वह इस तरह की कड़ी मेहनत में क्यों तल्लीन है ? उसकी उम्र सत्तर से ऊपर होगी। ऐसा मेरा अंदाज है। अभी जे० आर० डी० टाटा के बारे में पढ़ा है। वे तिरासी साल के हैं और रोज अपने ऑफिस में आकर चुस्त-दुरुस्त ढंग से अपनी कम्पनियों का कामकाज देखते हैं ! दौड़ते-भागते और मेहनत, इक्सर-साइज करते, फुर्तीले बने रहते हैं। उनका बदन बाधा-वेदनाओं से मुक्त है। उन्हें वह शोभा देता है। पर यह दूधवाला ! उनसे अम्मा पूछ रही थीं कि उसका बेटवा क्या करता है ? और वह बता रहा था उसके बेटवा को जमाने की हवा लग गयी है, वह अपनी गृहस्थी ले अलग हो गया है। अभी भी एक लड़की है जिसकी शादी करनी है।

वह एक दास्तान सुना गया यह कहते कि उसका नाम सुनील है। जब आपके सुनील भैया हुए तभी मेरे भी बेटा हुआ। मैंने आपकी देखा-देखी उसका नाम भी सुनील रख दिया था। मुझे क्या मालूम था कि वह अपनी बहन की शादी में हाथ नहीं बटायेगा और छह महीना हुए वह अलग हो गया। किसी तरह गुजर-बसर चल रहा है पर एक ही चिन्ता है---बेटी की शादी की !

अपने नाम की करामात सुन मैं बाहर आया। अम्मा ने मुझे बताया कि तुम्हारे बाबूजी जब लखनऊ में थे तब यह दूध देता था। आज मिलने आया है। ले आया है घर का अपने हाथों बनाया घी-मक्खन मेरी आंखों के फायदे के लिए। मैं बोला—मैंने सुना, इन्होंने बताया कि इनके बेटे का नाम भी सुनील है !

अम्मा बोलीं—यही तो मैं कह रही थी कि उस सुनील ने अपनी बहन की शादी से हाथ खींच लिया, कोई बात नहीं। तुम तो हो न सुनील ! तुम्हारे रहते इसे क्या फिक्र ! इसकी बेटी की शादी की जिम्मेदारी तुम्हारे सिर।

मैंने हामी भर ली और कह दिया—जो भी पांच-दस हजार खर्च होंगे बहन की शादी में, वह मेरी पत्नी मीरा से ले ले। मैं शहर में हूं या नहीं कोई चिन्ता की बात नहीं !

और झपटता बाहर चला आया ! अब जब भी वह दूधवाला टकराने को होता है, मैं अपने को बचा जाता हूं, क्योंकि मैं व्यर्थ में उसे एहसान के बोझ से नहीं लादना चाहता। मैं चाहता हूं उस बहन की शादी हो और मैं खुद वहां जाऊं और अपने दायित्व से मुक्त होऊं। उस गरीब से सलाम लेना कितना बोझिल हो उठता है कि मैं उसे सह पाने में अपने आपको असमर्थ पाता हूं। मुझे लगता है यह तो जीवन का क्रम है, अनोखे सम्बन्ध हैं, उन्हें जीना चाहिए, जिन्दगी इसी के लिए है, लेकिन उसकी एवज में उसका झुकना, सलाम करना, एहसान जताना—एक बोझ है जो रिश्तों के बीच में नहीं आना चाहिए।

दास्तान उन नामों की !

इस तरह नाम और रिश्तों की बात लेकर मुझे याद आती है वह घटना। बात सन् 1986 की है, मैं दिल्ली में था !

2 अक्टूबर, बाबूजी का जन्म-दिवस !

इसे गुजरे आठ दिन हुए, आज है विजयदशमी। इस बीच अम्मा से मिलने कितने ही परिचित-अपरिचित आते रहे। तरह-तरह की बातें। घर-परिवार के लोगों के साथ एक मैं भी हूं। लखनऊ से दिल्ली आना अक्सर होता है, पर इस समय का आना एक खास तरह का आना है। बाबूजी की बातों-यादों से सभी का मन भरा हुआ है। परिवार के सभी समय-समय पर उनकी कमी, उनकी अनुपस्थिति अनुभव करते हैं, पर एक मैं हूं जो लगभग हर समय बाबू जी को अपने आस-पास जीवन्त पाता हूं। लगता है, बराबर वे किसी-न-किसी तरह किसी-न-किसी रूप में मेरे साथ हर पल उपस्थित हैं।

उनकी उपस्थिति का एक गहरा एहसास लोगों को आज सुबह भी हुआ है। घर पर मिलने आये हैं श्री सी०पी० श्रीवास्तव। समय का गहरा अन्तराल। वे सरकारी अफसर कम, घर के सदस्य अधिक हैं। वैसे वे बाबूजी के प्रधान मन्त्रित्व-काल में उनके संयुक्त सचिव थे। बातों के बीच कितनी अनजानी बातें उन्होंने बाबू जी के बारे में सुनायीं, आज वे सारी अब के धरातल पर किस्सागोई-सी लगती हैं। फिर भी उनकी बातों ने एक ऐसा माहौल खड़ा कर दिया और लगने लगा कि कुछ ही क्षणों में बाबू जी हम लोगों के बीच उस तरफ से आ जायेंगे। और श्रीवास्तव जी को सम्बोधित करते हुए कहेंगे : श्रीवास्तव साहब, जरा आपसे एक सुझाव लेना है।

वे सी० पी० श्रीवास्तव जी को इसी तरह से सम्बोधित कर बात किया करते थे।

हम सब लोग पुरानी यादों में डूबे हुए थे कि हमारा छोटा बेटा आ, हमारी गोद में चढ़ने की जबरन कोशिश कर हमारा ध्यान अपनी उपस्थिति की ओर खींचने लगा। मैंने उससे श्रीवास्तव अंकल को नमस्ते करने के लिए कहा और वे पूछने लगे—बेटे, तुम्हारा नाम क्या है ?

यह बात हो ही रही थी कि छोटे को देख मेरे दोनों और बेटे वहां आ पहुंचे। मैंने तीनों का परिचय कराते बताया—ये हैं विनम्र, इनसे छोटे हैं वैभव, और यह नटखट है विभोर।

श्रीवास्तव साहब सराहना किये बगैर नहीं रहे। उनकी तरह और

भी जाने कितने लोग हैं, जो मेरे इन नामों के चयन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा किये बगैर नहीं रह पाते, पर आज बातचीत का सिलसिला कुछ इस तरह बाबू जी के इर्द-गिर्द चल रहा था कि मुझसे रहा ही नही गया और बरसों की छिपी बात वाली गांठ मेरे न चाहते हुए भी वरबस खुल ही गयी। विनम्र, वैभव और विभोर के नामों को लेकर एक ऐसी उनमुक्त चर्चा चल पड़ी जिसमें मेरे बड़े भाई—हरी भैया और अम्मा सभी शामिल थे। वहां उपस्थित सभी के मन में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि मैं किस तरह विनम्र, वैभव जैसे नामों की कल्पना तक जा पहुंचा हूं।

शायद अम्मा के सामने इस बात को कहने का और कोई दूसरा उपयुक्त समय नहीं आयेगा। कभी और दूसरे समय यह बात कहनी पड़ी तो सारी ईमानदारी के बावजूद बहुत छोटा महसूस होगा अपने आपको !

बाबू जी को लेकर सारा ही माहौल उतना जीवन्त, उतना चार्ज और एलेक्ट्रिफाइड नहीं होता, तो शायद मेरे होंठों के बाहर यह बात कभी नहीं आती।

मैंने बताया—मेरे ये बेटे अपने बाबा से अपरिचित ही रहेगे। उन्हें मौका ही नहीं मिला अपने बाबा के प्यार को पाने का, क्योंकि मेरी शादी उनके निधन के बाद हुई। मेरे बाबू जी से परिचय पाने, उन्हें जानने-समझने की उम्र अभी इनकी नहीं। बाबू जी के न रहने के बाद इस बात से जूझता रहा कि उनके परिवार की कड़ी को आगे कैसे सहेजकर रख सकूंगा मैं। जब मेरा पहला बेटा हुआ तो यह प्रश्न और बड़ा होकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। इस बेटे के मन में यह जिज्ञासा कैसे बोई जाये कि वह यह कभी जानने-समझने के लिए आतुर हो उठे कि उसके बाबा कैसे थे ? क्या थे ? इसलिए बाबू जी के स्वरूप को मन में संवारते हुए इन नामों की कल्पना गढ़ी कि आगे आने वाले समय में मेरा बेटा अपने बाबा के आदर्शों के प्रति खिंचाव महसूस कर सके, उस सबको अपने जीवन में उतारने के लिए प्रेरित हो सके। इसके लिए मुझे सहारे के लिए मिले बाबू जी के गुण !

लगभग सभी लोग कहते और मानते हैं कि शास्त्री जी एक अतिशय विनम्र व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे, अत: उनसे विनम्रता उधार लेकर अपने बड़े बेटे का नाम मैंने रखा विनम्र। अब यह इस बेटे का दायित्व

होगा कि वह अपने बाबा की विनम्रता की रक्षा करे, कहते हुए मैंने अपने बड़े बेटे को सामने किया। जिसने पूरी विनम्रता से श्रीवास्तव अंकल को नमस्ते की और उन्होंने प्रति-उत्तर में उसके सिर पर हाथ रख आशीर्वाद दिया।

शास्त्री जी का व्यक्तित्व वैभवशाली था, कहते हुए मैंने अपने बीच के बेटे को आगे किया और जोड़ा, यह है वैभव! उसने भी मेरे कहने पर नमस्ते की और श्रीवास्तव अंकल ने बड़े प्यार से उसके गाल थप-थपाये।

विनम्र और वैभवशाली व्यक्तित्व वाले शास्त्री जी से मिलकर हर कोई विभोर हो उठा है, इसलिए इस छोटे का नाम मैंने रखा विभोर!

उसने बिना मेरे कहे अंकल को नमस्ते की और जबरन श्रीवास्तव जी ने उसे प्यार से अपनी गोद में खींच लिया। तभी मैंने देखा, हरी भैया की आंखों की चमक दूनी हो उठी है और वे कह रहे हैं, मुझे नहीं मालूम था कि तुमने इस गहराई से सोचकर रख छोड़े हैं ये नाम! कहते उन्होंने तीनों को अपनी बाहों के घेरे में ले लेना चाहा और आगे कहते गये—बड़े सुन्दर हैं ये नाम और उससे कहीं अधिक सुन्दर हैं इनके पीछे की बातें जिस पर किताब लिखी जा सकती है!

हरी भैया अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि मैंने पाया पास बैठी अम्मा विनम्र, वैभव और विभोर—तीनों को अपनी गोद में खींच चुकी थीं। उनकी आंखें नम हो आयी थीं। उनके अधरों पर स्वर्गिक मुस्कराहट थी, जिसमें से प्यार की गंगा भरपूर फूट पड़ी थी और मेरी बात पर जितना प्यार दादी के इन लाड़लों ने उस क्षण अर्जित किया यह उनके लिए जीवन की अनोखी धरोहर बन चुका है, उनकी सुकुमार आंखों को देख मुझे ऐसा कुछ एहसास हुआ।

मेरे बच्चे, 15 अगस्त और दिल्ली का लाल किला

आज बेटे की इन आंखों ने मुझे जबरन अपने मन को टटोलने पर मजबूर कर दिया और मुझे अपने बचपन में देखी गयी ऐसी ही कई आंखों की याद आ गयी जो मुझे अक्सर सालतीं, मेरे अपने अकेलेपन को छूती तंग करती हैं, जैसे नेहरूजी की आंखें। वे आंखें भी मेरे जीवन की अनमोल धरोहर हैं।

बात इसी 15 अगस्त की है।

मैं लखनऊ से दिल्ली आने वाला था। इस बार मेरे बेटों ने जिद की वे भी मेरे साथ 15 अगस्त को दिल्ली आ, पास से प्रधान मन्त्री को देखना चाहेंगे। उनका बाल-हठ किसी भी तरह टाला नहीं जा सका।

उस दिन परिवार के साथ मैं पहुंचा लाल किले। वहां बच्चों के बैठने के लिए अलग व्यवस्था थी। वैसे मेरे बचपन में जब मैं अपने बाबूजी के साथ लाल किले आता था, 15 अगस्त को, तब की और आज की बात में कितना फर्क आ गया है सुरक्षा की दृष्टि से। आज बच्चे समारोह के बीच कुछ पूछना-गिनना चाहें तो वह सम्भव नही ! अलग पत्नी के साथ बैठा दिया गया मैं। कार्यक्रम समाप्त हुआ, हम वापस चल पड़े। इतनी देर में जाने कितनी बातें, पुरानी कितनी घटनायें मेरे मन में इकट्ठा हो आईं थीं। सीढ़ियों से उतरते हुए सहज ही मैंने अपनी पत्नी का हाथ धीरे से पकड़ा और कहने पर मजबूर हो उठा, क्योंकि हो रहे समारोह के बीच मुझे पंडित नेहरू की आंखें बार-बार सालती रही। शायद बच्चों की दूरी ने उन आंखों को और कहीं अधिक पैना कर दिया था। मुझे सहारा चाहिए था। पत्नी को अटपटा न लगे, उसका हाथ छूते ही मैंने कहा— मीरा, इसी जगह लाल किले पर एक बार पंडित जी का हाथ पकड़ने और उनके गले लगने का मौका मैंने भी पाया था।

मेरी बात पर पत्नी ने मेरी ओर ठिठककर देखा। उसकी आंखों ने जानना चाहा : पूरी तरह बताओ न, कहो—कब ? कैसे ?

मैंने कहा—यह बात मैं लखनऊ में उसी दिन कहना चाहा था, जब बच्चों ने लाल किले पर आने की बात कही थो। ऐसे ही मैंने भी आपने बाबू जी से लाल किले पर आने की जिद्द की थी, पर काम की आपाधापी में वह सब, वहां लखनऊ में, कह नहीं पाया। यहां बैठे-बैठे मुझे नेहरू जी की आंखों की वह चमक लगातार सालती रही। जानती हो, बाबू जी के साथ यहां लाल किले पर पहली बार पहुंचकर मैं लगातार एकटक पंडित जी को ही देखता रहा। उनके एक-एक नक्श और हावभाव मेरे मन पर आज भी सजीव ताजे अंकित हैं। वैसे वे घर भी आते थे। मीटिगें होती थीं और मैं हमेशा छिपकर उनकी बातें सुना करता था, पर 15 अगस्त की बात ही कुछ और थी, जब मैं पहली बार यहां आया था और मुझे लगा पंडित जी आये, ध्वजारोहण हुआ। उन्होंने बोलना शुरू किया और कितनी जल्दी उनका सारा

भाषण खत्म हो गया। वह सारा समय मेरे लिए कितना छोटा हो उठा था—बस, एक पल का जो पलक छपकते ही मानो बीत गया। भापण के बीच एक और लालसा जागी : उनका हाथ पकड़कर चलने की। बार-बार उनके पास जाता और वे प्यार से मुझे थपथपा देते।

जैसी मेरी इच्छा थी, उनका हाथ पकड़कर चलने की वह नही हो पायी। उस समय के रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन भी पडित जी के साथ चल रहे थे। उन्होंने देखा—मैं बार-बार पंडित जी के निकट प्यार पा लौट जाता हूं। मेरी नटखटता शायद उन्हें न पसंद आयी हो या कुछ और कि अगली बार जब मैं पंडित जी की तरफ बढ़ा तो उन्होंने अपने एक हाथ से मेरा हाथ पकड़ा और दूसरे से बड़े प्यार से मेरी नाक। उन्हें शायद यह पता नहीं चल रहा होगा कि मुझे कितनी तकलीफ हो रही है। मैं इस तरह महसूस कर रहा था जैसे पिंजड़े में बंद एक पक्षी महसूस करता हो। मैंने पंडित जी के निकट आ उनके हाथ को धीरे-से हिलाया। पंडित जी ने मेरी ओर देखा और वे भांप गये कि बड़ी कष्ट-दायक स्थिति में है यह बेटा। उन्होंने सीधे तरीके से मेनन साहब से यह नहीं कहा कि वे मेरी नाक छोड़ दें, इससे लड़के को तकलीफ हो रही होगी, पर बड़े सुन्दर तरीके से हंसते हुए बोले—क्यों, भाई कृष्ण मेनन जी, आप चाहते हैं कि इस लड़के की नाक भी आपकी तरह लंबी हो जाये ?

इतना सुनना था कि कृष्ण मेनन ने तत्काल अपना हाथ मेरे नाक की पकड़ से हटा दिया। मुक्त हो मैं खुशी-खुशी पंडित जी की तरफ लपका। पंडित जी ने बड़े प्यार से मुझे गोद मे भर, गले से लगा लिया। इसी तरह अपनी गोद में मुझे उठाये वे चलते रहे, फिर मेरे बाबू जी ने मुझे उनकी गोद से उतार लिया। आज जब सोचता हूं तो बात कितनी अजीब लगती है। होने वाली बात के अर्थ हम चाहे न जानें, लेकिन वह बिना मतलब नहीं होती। अगर मेनन साहब ने मेरी नाक न पकड़ी होती, तो शायद नेहरू जी की निकटता, इतना प्यार पाने का वह सौभाग्य मुझे न मिलता।

जब यह सब मैं मीरा को सुना रहा था तो मुझे याद आया कि राजनीति में पड़े-उलझे लोगों के लिए परिवार कैसे बंट जाता है। काम की आपाधापी के बीच पिता-पुत्र के सम्बन्धों की खाई कैसे बढ़ जाती है। वैसे मेरे बाबू जी ने कभी यह दूरी नहीं महसूस होने दी,

फिर भी राजनीति राजनीति है। सारी कोशिश के बावजूद हमारे पिता-पुत्र के सम्बन्धों में कमी आना लाजमी था। वह कमी कभी-कभी मुझे कचोटती रहती।

बाबूजी के साथ रंगून

बात है दिसम्बर 1965 की।

याद आता है किस कठिनाई से मौका मिला था हम लोगों को रंगून जाने का, वह भी मेरी पहली विदेश-यात्रा ! मैं और मेरा छोटा भाई अशोक, बाबूजी के साथ रंगून जा रहे थे। बड़ा अच्छा लग रहा था अम्मा-बाबूजी के साथ यात्रा करना। बार-बार मन में यही सोचता कि वहां पहुचने पर एक प्रधानमंत्री के पुत्र होने के नाते मुझे क्या करना चाहिए ? क्या उचित होगा ? क्या नहीं ? और कुछ थोड़ी-सी घबराहट भी मेरे मन में थी। मैंने बाबूजी से जानना चाहा : हम लोगों को क्या कुछ करना पड़ेगा वहां ?

उनका उत्तर था—सुनील, ये सारी बातें तुम लोगों को बता दी जायेंगी। कोई ऐसी बात नहीं जिसे लेकर तुम ज्यादा परेशान हो। यह जरूर है कि वहां पहुंचने पर तुम्हें वहां के बच्चों से, स्कूल के लड़कों से शायद मिलना भी पड़े। मीटिगें आयोजित की जायेंगी और उसमें तुम अपने देश के बारे में बताना।

देश के बारे में ! मैंने तो आज से पहले कभी इस प्रश्न पर सोचा ही नहीं, इसलिए पूछ बैठा—देश के बारे में हमें क्या बताना चाहिए ? वे कुछ और कहने वाले थे कि सहसा मैंने पाया, वे मुंह खोलते-खोलते रुक गये, वे आंखें आज भी मेरे मन-पटल पर सजीव अंकित हैं। एक पल देखते रहने के बाद बोले—सुनील, तुमने जो प्रश्न किया है, शायद, उसका उत्तर किसी के पास कठिनाई से ही मिलेगा। देश के बारे में क्या-क्या बतायें ! अपना देश इतना विशाल है और इतनी विविधता है कि इसकी हर बात, हर व्यक्ति शायद ही जानता हो, पर तुम्हें यह बात जरूर ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारी संस्कृति और जो हमारी परंपरा है, जो एक हमारा खास दृष्टिकोण है विभिन्न धर्मों के प्रति, उन सारी बातों को वहां स्पष्ट करना चाहिए, बताना चाहिए और साथ-ही-साथ अपने देश के महान नेताओं के बारे में, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बारे में, पंडित जी के बारे में बातें करनी चाहिए !

हम लोग रंगून पहुंचे। हमें तौर-तरीकों से अवगत कराया गया। प्रधानमंत्री उतरे, गार्ड ऑफ आनर हुआ। हम लोग गेस्ट हाऊस में पहुंचा दिये गये। वहां ठहरने के लिए हम दोनों भाइयों को अलग-अलग कमरा दिया गया। जीवन में इस तरह अलग रहना पहली बार हो रहा था, परेशानी की बात थी।

अपनी परेशानी ले, हम बाबूजी के पास आये। वे बोले—अभी अलग कमरों में ही रहिए। रात आने पर एक ही कमरे में सो जाइएगा।

इस यात्रा ने मन में जाने कितने प्रश्न खड़े कर दिये!

विदेश से देश की ओर लौटते हुए मन में देश के नगरों, महानगरों की ओर जाने, उन्हें देखने-सुनने की जिज्ञासा जागी। भारत लौटने पर बाबूजी के सामने अपने मन की बात रखी, कहा—रंगून के अनुभव अपनों को सुनाने चाहिए। हमारे कुछ दोस्त लोग बम्बई का प्रोग्राम बना रहे हैं, अगर आप इजाजत दें तो मैं भी उनके साथ बम्बई घूम आऊं।

मेरी बात सुन बाबूजी बोले—देखो, सुनील विदेश-यात्रा करके आये हो! तुम्हारी छुट्टियां आ रही हैं, मैं चाहता हूं कि तुम ग्रामीण अंचल का दौरा करो। उन लोगों को जानने की कोशिश करो, जिनकी सेवा तुम्हें करनी है, उनकी कठिनाइयां क्या हैं? वे किस तरह रह रहे हैं? यह सब जानो-समझो।

उस समय उनके इस उत्तर पर मेरा किशोर मन परेशान हो उठा, क्या जानता था उनके ये चंद वाक्य, मेरे जीवन की राह गढ़ रहे हैं। वे मेरे सामने जो मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, वह आगे जा मेरा इष्ट बन जाने वाला है। उनसे जवाब-सवाल का प्रश्न ही नहीं उठता था, पर मन कोस रहा था। किसी तरह भुनभुना कर मन की बात उनके सामने रख दी—गांवों में जाने से सारी छुट्टी खराब हो जायेगी बम्बई न गये तो सब बेकार हो जायेगा और आप जा रहे हैं ताशकंद!

मेरे स्वरों का उलाहना उनसे छिपा नहीं था। बोले—अच्छा, आप ऐसा कीजिए, जब मैं ताशकंद से लौटकर आऊं तब आप मुझे बताइएगा। हम बम्बई घूमने का इंतजाम करवा देंगे, पर अभी आप मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्र का दौरा करें, वहां गांवों में जायें उन्हें

फिर भी राजनीति राजनीति है। सारी कोशिश के बावजूद हमारे पिता-पुत्र के सम्बन्धों में कमी आना लाजमी था। वह कमी कभी-कभी मुझे कचोटती रहती।

बाबूजी के साथ रंगून

बात है दिसम्बर 1965 की।

याद आता है किस कठिनाई से मौका मिला था हम लोगों को रंगून जाने का, वह भी मेरी पहली विदेश-यात्रा ! मैं और मेरा छोटा भाई अशोक, बाबूजी के साथ रंगून जा रहे थे। बड़ा अच्छा लग रहा था अम्मा-बाबूजी के साथ यात्रा करना। बार-बार मन में यही सोचता कि वहां पहुचने पर एक प्रधानमंत्री के पुत्र होने के नाते मुझे क्या करना चाहिए ? क्या उचित होगा ? क्या नहीं ? और कुछ थोड़ी-सी घबराहट भी मेरे मन में थी। मैंने बाबूजी से जानना चाहा : हम लोगों को क्या कुछ करना पड़ेगा वहां ?

उनका उत्तर था—सुनील, ये सारी बातें तुम लोगों को बता दी जायेंगी। कोई ऐसी बात नहीं जिसे लेकर तुम ज्यादा परेशान हो। यह जरूर है कि वहां पहुंचने पर तुम्हें वहां के बच्चों से, स्कूल के लड़कों से शायद मिलना भी पड़े। मीटिंगें आयोजित की जायेंगी और उसमें तुम अपने देश के बारे में बताना।

देश के बारे में ! मैंने तो आज से पहले कभी इस प्रश्न पर सोचा ही नहीं, इसलिए पूछ बैठा—देश के बारे में हमें क्या बताना चाहिए ? वे कुछ और कहने वाले थे कि सहसा मैंने पाया, वे मुंह खोलते-खोलते रुक गये, वे आंखें आज भी मेरे मन-पटल पर सजीव अंकित हैं। एक पल देखते रहने के बाद बोले—सुनील, तुमने जो प्रश्न किया है, शायद, उसका उत्तर किसी के पास कठिनाई से ही मिलेगा। देश के बारे में क्या-क्या बतायें ! अपना देश इतना विशाल है और इतनी विविधता है कि इसकी हर बात, हर व्यक्ति शायद ही जानता हो, पर तुम्हें यह बात जरूर ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारी संस्कृति और जो हमारी परंपरा है, जो एक हमारा खास दृष्टिकोण है विभिन्न धर्मों के प्रति, उन सारी बातों को वहां स्पष्ट करना चाहिए, बताना चाहिए और साथ-ही-साथ अपने देश के महान नेताओं के बारे में, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बारे में, पंडित जी के बारे में बातें करनी चाहिए !

हम लोग रंगून पहुंचे। हमें तौर-तरीकों से अवगत कराया गया। प्रधानमंत्री उतरे, गार्ड ऑफ आनर हुआ। हम लोग गेस्ट हाऊस में पहुंचा दिये गये। वहां ठहरने के लिए हम दोनों भाइयों को अलग-अलग कमरा दिया गया। जीवन में इस तरह अलग रहना पहली बार हो रहा था, परेशानी की बात थी।

अपनी परेशानी ले, हम बाबूजी के पास आये। वे बोले—अभी अलग कमरों में ही रहिए। रात आने पर एक ही कमरे में सो जाइएगा।

इस यात्रा ने मन में जाने कितने प्रश्न खड़े कर दिये !

विदेश से देश की ओर लौटते हुए मन में देश के नगरों, महानगरों की ओर जाने, उन्हें देखने-सुनने की जिज्ञासा जागी। भारत लौटने पर बाबूजी के सामने अपने मन की बात रखी, कहा—रंगून के अनुभव अपनों को सुनाने चाहिए। हमारे कुछ दोस्त लोग बम्बई का प्रोग्राम बना रहे हैं, अगर आप इजाजत दें तो मैं भी उनके साथ बम्बई घूम आऊं।

मेरी बात सुन बाबूजी बोले—देखो, सुनील विदेश-यात्रा करके आये हो ! तुम्हारी छुट्टियां आ रही हैं, मैं चाहता हूं कि तुम ग्रामीण अंचल का दौरा करो। उन लोगों को जानने की कोशिश करो, जिनकी सेवा तुम्हें करनी है, उनकी कठिनाइयां क्या हैं ? वे किस तरह रह रहे हैं ? यह सब जानो-समझो।

उस समय उनके इस उत्तर पर मेरा किशोर मन परेशान हो उठा, क्या जानता था उनके ये चंद वाक्य, मेरे जीवन की राह गढ़ रहे हैं। वे मेरे सामने जो मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, वह आगे जा मेरा इष्ट बन जाने वाला है। उनसे जवाब-सवाल का प्रश्न ही नहीं उठता था, पर मन कोस रहा था। किसी तरह भुनभुना कर मन की बात उनके सामने रख दी—गांवों में जाने से सारी छुट्टी खराब हो जायेगी बम्बई न गये तो सब बेकार हो जायेगा और आप जा रहे हैं ताशकंद !

मेरे स्वरों का उलाहना उनसे छिपा नहीं था। बोले—अच्छा, आप ऐसा कीजिए, जब मैं ताशकंद से लौटकर आऊं तब आप मुझे बताइएगा। हम बम्बई घूमने का इंतजाम करवा देंगे, पर अभी आप मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्र का दौरा करें, वहां गांवों में जायें उन्हें

देखें-समझें।

उनका स्नेह भरा आदेश टालना असम्भव था, उसे मैं कैसे टालता!

बाबूजी उधर ताशकंद गये और मैं भोपाल, मध्य प्रदेश के लिए रवाना हो गया। जाते समय मैंने बाबूजी से जरूर पूछा कि मैं दौरा तो कर आऊंगा पर इससे आप मुझसे चाहते क्या हैं? कुछ वहां के लिए काम तो बताइए, जिससे मैं लौटकर आप से बता तो सकूं कि यह-यह किया और मुझे उसमें कितनी सफलता मिली।

बाबूजी ने कहा—सुनील, इस दौरे में राष्ट्रीय सुरक्षा कोष, जो नेशनल डिफेंस फंड है, उसके लिए कुछ धनराशि इकट्ठी करनी होगी।

लड़ाई हो चुकी है। वे समझौते के लिए जा रहे थे। उनका कहना था कि देश के नौजवानों के लिए और रक्षा के लिए धन की जरूरत है। उसके लिए मैं भी कुछ करूं। उन्होंने आगे हिदायत दी कि जहां-जहां मैं जाऊं, लोगों के मन में जागृति पैदा करने की कोशिश करूं। इस तरह मेरा दौरा भी होगा और मैं देश के कुछ काम भी आ सकूंगा। इसके लिए मुझे कोशिश करनी चाहिए।

मैंने पूछा—आप इसके लिए मुझसे कितना चाहते हैं? कुछ धन-राशि निश्चित कर दीजिए।

उनका उत्तर था—दस हजार रुपये भी आप करेंगे तो हम आपकी काफी तारीफ करेंगे।

मैंने जवाब दिया—मैं दस नहीं, आप के लिए तीस एक हजार तो ले ही आऊंगा।

मेरे इतना कहने पर मैंने पाया, वे चुप-गम्भीर हो सराहना के साथ मुझे देख रहे हैं। आंख बंद कर आज भी मैं उन आंखों की गर्मी से तिलमिला उठता हूं। क्या कुछ नहीं कहा था उन अनबोली आंखों ने मुझसे!

उधर बाबूजी ताशकंद गये और मैं मध्य प्रदेश के लिए चल पड़ा।

दौरे का नया अनुभव खून में बसने लगा था। एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव, एक मीटिंग से दूसरी मीटिंग। आज अगर कोई मेरी आंखों में कैमरे का लैंस फिट कर दे, तो शायद बटन दबाते ही उस दौरे की सारी तस्वीर फिल्म के पर्दे पर बनती-उतरती चली जायेगी।

कैसी रोमांचक यात्रा थी वह भी!

भोपाल में चंदा-फेरी और बाबूजी का निधन

पहले सारा कुछ एक अनावश्यक घटनाक्रम लग रहा था। फिर जो उत्साह भीड़ की आंखों में उमड़ता पाया उससे साहस बढ़ने लगा। मीटिंगों का क्रम बढ़ता जा रहा था। अब भूख ने साथ छोड़ दिया था। लोगों से मिलता, उनकी बातें, उनका दुखदर्द सुनता और उसे बांटने की चेष्टा में यह आभास जागा और लगा, जीवन का सत्य स्पष्ट हो रहा है। मेरा लक्ष्य संवरने और मूर्तरूप प्राप्त करने लगा है। इससे पूर्व ग्राम-जीवन या ग्रामीण अंचल से कोई सम्पर्क या लगाव ही नहीं पनपा था। आज सोचता हूं, सोलह वर्ष की आयु में इतने निकट से भारत देखने का अवसर बाबूजी ने सामने रख दिया था।

हर रात, बाबूजी को, सोने से पहले याद करता, सोचता था। उन्होंने जो मार्ग दिखा दिया है वह अब मेरे जीवन को अपने में पूरी तरह समेट ले! योजना बनाता, लौटकर अपने अनुभव, अपनी इच्छा और कल्पनाओं को किस-किस तरह बाबूजी के साथ बांटकर जिऊंगा। हर दिन यह इच्छा बढ़ती बलवती होती चली जा रही थी। बाबूजी से मिलने की आतुरता।

दो-तीन दिनों के अंदर दस-पंद्रह हजार से ऊपर रुपये इकट्ठे हो चुके थे। इसके साथ ही कितनी ही जगह महिलाओं ने देश के जवानों के लिए अपने गहने-जेवरात तक दे दिये। वह सारा कुछ जिला प्रशासन एकत्र करता जा रहा था।

दस तारीख की रात!

विदिशा का एक गांव गंज बसोदा।

यहां मीटिंग में पहुंचना था साढ़े सात बजे, पर उसके पहले के कार्यक्रम लंबे होते चले गये। हम बसोदा पहुंचे साढ़े ग्यारह, पौने बारह बजे। वे लोग मेरा इंतजार नहीं कर रहे थे, बल्कि मेरे बाबूजी का। युद्ध-विजयी नेता के रूप में, जिसने देश को विजय दिलाई थी, उसे उन्होंने सत्कार ही नहीं दिया, बल्कि अपने हृदय के सिंहासन पर विराजित कर लिया था। उस भीड़ में मैंने सबका मान-सत्कार अपने बाबूजी के लिए स्वीकार किया। मुझे लगा कि वे चाहते हैं कि मैं उनकी भावनाओं को दिल्ली ले जाकर बाबूजी तक पहुंचाऊं।

मीटिंग समापन के नजदीक आयी तो उस रात जिला अधिकारी

ने बताया कि ढाई लाख रुपये इकट्ठे हो चुके हैं। उस पल मैं अपने मन के उत्साह की आप को क्या बताऊं।

कहां बाबूजी की मांग के दस हजार और मेरे वादे के तीस हजार, और जनता के दिये अब तक के तीन लाख से ऊपर ! आप एक सोलह साल के युवक के मन की खुशी का अंदाज लगाइये ! क्या मच रहा था उस क्षण मेरे मन के आंगन में, जैसे पर लगाकर मैं बाबूजी के सामने जा खड़ा होना चाहता था।

काफी रात गये इंस्पेक्शन-बंगले पर वापस लौटा। अभी दो करवटें भी नहीं ली थीं कि कच्ची नींद में साढ़े चार बजे के लगभग मुझे जगाया गया। कहा गया—आगे का कार्यक्रम रद्द कर दिया गया है। मुझे सीधे भोपाल जाना है।

उस समय मेरे साथ श्री शंकर दयाल जी शर्मा, जो आजकल भारत सरकार के उप-राष्ट्रपति हैं, थे। मैं उनके कमरे में गया, उनकी आंखें गीली थीं। उन्होंने या कि और किसी ने कुछ नहीं कहा मुझसे ! अजीब लगा, सभी आंखें चुरा रहे हैं।

मेरे साथ वहां के राज्यपाल के० सी० रेड्डी के पुत्र सुदर्शन रेड्डी भी थे। जब मैं भोपाल से चला था उस समय राज्यपाल जी की तबीयत कुछ खराब थी। मेरे मन ने कहा: सुदर्शन रेड्डी को नहीं बताना चाहते, कहीं उनके पिताजी नहीं रहे हों, यह सोच मैंने कुछ ज्यादा खोजबीन नहीं की।

भोपाल पहुंचते मैंने वहां की सरकारी इमारतों पर लगे तिरंगे झंडे को देखने की अथक चेष्टा की कि वह क्या आधा झुका हुआ है ? हमारी गाड़ी फर्राटे से चल रही थी। वह बात भी सम्भव नहीं हो पायी।

राजभवन पहुंचा। गवर्नर साहब से मिलने की इच्छा जाहिर की पर इसके लिए भी असमर्थता दिखाई गयी। उनकी तबीयत खराब थी और उनके लिए मेरा सामना करना कठिन था। उनकी पत्नी मेरे पास आयीं और उन्होंने कहा—आपको दिल्ली जाना होगा, क्योंकि आपकी दादी नहीं रहीं। मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री डी० पी० मिश्र दिल्ली जा रहे हैं, वे अपने हवाई जहाज में तुम्हें वहां ले जायेंगे।

शंका जागी, मुझे राज्यपाल से नहीं मिलने दिया जा रहा और इस तरह का ले जाया जाना कुछ समझ में नहीं आ रहा था। रेडियो

तक सुनने को नहीं दिया गया मुझे !

हम भोपाल हवाई अड्डे पर पहुंचे।

जल्दी-जल्दी मुझे मुख्य मन्त्री के साथ ले जाया जा रहा था। जाते-जाते एक अखबार पर नजर पड़ी और केवल इतना ही पढ़ पाया जहां बड़े अक्षरों में शास्त्री लिखा है। सोचा कि वह ताशकंद की खबरों से सम्बन्धित है। इससे आगे सोचने की अक्ल ही नहीं पैदा हुई थी तब तक। दोपहर के आस-पास पालम हवाई अड्डे पर उतरा। हजारों की भीड़ ! पहले थोड़ा-सा चौकन्ना हुआ। लगा शायद गलत बात मेरे मन को ढाढ़स दिलाने के लिए कही गयी है मुझसे। दादी की नहीं, कहीं मेरी मां की मृत्यु न हुई हो ! बाबूजी की तरफ तो ध्यान नहीं गया। इतनी भीड़ शायद इसलिए उमड़ आयी है कि वे सब बाबूजी को मान देते हैं और संवेदना देने आये हैं।

गाड़ी से घर की ओर !

घर में सभी को रोते पाया। हरी भैया, अनिल, अशोक—सभी दुखी खड़े रो रहे थे, कोई नहीं बोला। मैं ठिठककर पल भर खड़ा रहा। एक ओर से आवाज आयी—चलो अम्मा के पास !

पीछे वाले बरामदे में ले जाया जा रहा था मुझे। मैं अपने से लड़ रहा था। मेरी ये आंखें अम्मा के उनके मृत शरीर को कैसे देख पायेंगी ? मन का साहस बटोर, भारी कदमों से उधर चला।

सीढ़ी पर पहला कदम !

मुझे सांप सूंघ गया। शरीर ने अपना साथ छोड़ दिया, जड़वत् पत्थर की तरह गिरा भी नहीं, खड़ा भी नहीं रहा जा रहा था। क्योंकि अम्मा उस कमरे से निकलीं, रोती हुई। उनकी बिंदिया पुंछी थी ! लपककर उन्होंने मुझे बांहों में भर लिया था। तब मुझे अहसास हुआ : मैंने अपने बाबूजी को खो दिया है !

अम्मा की उन आंखों को क्या जीवन में कभी भी भूला जा सकता है ! मेरे मन के शीशे पर अंकित आकांक्षाओं, इच्छाओं और आशाओं के सारे सपने टूटकर बिखर गये। वे सारे कल्पना के बन्दनवार, जिन्हें मैंने मध्य प्रदेश के ग्रामीण अंचलों में बुने थे, उन सबके बीच पिरोया

धागा खींच लिया गया था और मैंने उन बंदनवारों के सुमन पुष्प को मन की मुट्ठी में भींचकर कस लिया था। इन सारी बातों, घटनाओं को जिनको मैं बाबूजी के साथ बांटकर जीना चाहता था, उनसे आजीवन कभी भी अब बांटकर नहीं जी सकूंगा। कैसी छटपटाहट और असहायवाली स्थिति में मैं लाकर खड़ा कर दिया गया था ! नये कच्चे मन के अनुभव मेरे मन की गहराइयों में अब सदा-सर्वदा के लिए बन्द रह जायेंगे। मैं दौड़ा था उन सब को साथ ले बाबूजी से कहने-सुनने पर बाबूजी के साथ उन सबको लिये जाने से पूर्व ही वे मेरे सामने चुप, सदा के लिए नींद के आगोश में पड़े थे। उस क्षण मेरी कसी मुट्ठी मेरी छाती से आ लगी और मेरे मन ने एक प्रण एक अनुष्ठान किया।

मैं अम्मा के गले से लगा बड़ी हिम्मत करके उनकी आंखों की ओर देख पाया, जहां गहरा सूनापन था। उनकी आंखों से लगातार आंसू की धारा फूट रही थी। मैंने हाथ बढ़ा अपनी हथेली से उनकी आंख पोंछने और उनका दुख बंटाने की असफल कोशिश की। उन आंखों की अनोखी गहरी छाप मेरे मन में घर कर गयी।

मैंने उस पल, इस बात का फैसला किया कि कोशिश करूंगा आजीवन, आने वाले समय में, बाबूजी की उस भावना का आदर करते हुए, भारत को सही रूप में जान सकूं। उन्होंने मुझे गांव में जाने की सलाह दी थी कि वहां जा सेवा का व्रत लूं, बाबूजी ने मुझे इसके लिए ही, इस सबके लिए प्रेरित किया था। मेरी कोशिश और चेष्टा यही रहेगी कि जब तक सम्भव हो सकेगा, जैसे भी सम्भव हो सकेगा बाबूजी की उस भावना को अपने साथ लेकर ही आगे बढ़ूंगा।

बाबू जी जो कुछ चाह रहे थे वह भोपाल जा, करने की कोशिश मैंने की, पर उसमें पायी अपनी सफलता उनको बता नहीं सका। इस-लिए उनका सौंपा हुआ काम आजीवन करता रहूंगा—यह मैंने प्रण किया, क्योंकि अपनी बातें उनसे न बता पाने की असफलता मुझे जीवन भर सालती रहेगी।

लखनऊ ! सन्…!

मैं उत्तर प्रदेश सरकार में उप मन्त्री बना तो शपथ समारोह में अपनी पूजनीया अम्मा को भी राजभवन ले गया। शपथ लेने के बाद अम्मा के पैर छू आशीर्वाद मांगा। बड़े स्नेह से उन्होंने आदर्शों को

सामने रखते हुए कहा—ईमानदारी, कर्मठता और पूरी लगन के साथ जो भी काम तुम्हें मिले उसे करना होगा।

जिस समय अम्मा मुझसे यह कह रही थीं, मेरी आंखों के सामने वह समय गुजरा जब बाबूजी ने प्रधानमन्त्री पद की शपथ ली थी। मैंने सुन रखा था : बाबूजी घर लौटे थे और अपनी मां यानी मेरी दादी के चरण छुए। इस पर दादी ने इतना कहा—नन्हें, मैं चाहती हूं भले ही तुम्हें कुछ हो जाये, लेकिन देशं को तुम्हारे रहते कुछ नहीं होना चाहिए, लोगों की सेवा तुम्हें जी-जान से करनी है, बिना अपने जान की परवाह किये।

उस पल ये सारी बातें मेरे मन में गूंज उठी थीं। पर उस दिन भी जब अम्मा आशीर्वाद से मेरे सिर पर अपना हाथ फेर रही थीं तब भी उनकी आंखों में वही सूनापन था, जो भोपाल से लौट मैंने अम्मा की आंखों में पाया था।

उन हाथों की कीमत !

फिर कई बार अम्मा लखनऊ आती रहीं।

समय का अन्तराल !

एक बार वे लखनऊ में मेरे साथ थीं। मेरे मन में उनके प्रति अनुराग जागा और जाने क्यों अनायास ही मैंने उनसे मांग की—अम्मा, आपकी बहू के हाथ का खाना तो मैं हर दिन खाता ही रहता हूं, आप के हाथों बना खाना खाये काफी अरसा हो गया। आप जानती हैं मेरी पसन्द। आज शाम आप के हाथों बना खाना खाना चाहता हूं।

उम्र उनकी काफी हो चुकी है। यह मांग अटपटी लग सकती है। पर मेरा भोला मन इस मांग से कतराया नहीं, जाने क्यों ऐसा ही जी में आया और मैं कह गया।

उस शाम उन्होंने खाना बनाया। मेरे बेटे भी तारीफ करते रहे—दादी मां, आज आपने सचमुच बहुत ही अच्छा खाना खिलाया !

खाना खा, जब मैं हाथ धोकर लौटा, तो मैंने अम्मा के दोनों हाथों को बहुत प्यार किया और मेरे मुंह से अनायास निकला : अगर मुझसे आज कोई पूछे, इन हाथों की कीमत क्या है, तो मैं अरबों-अरबों में जाने कितना कह दूंगा। क्या इस प्यार, इस स्नेह की कीमत लगायी जा सकती है ?

इतना कह, मैंने खुशी देखने के लिए अम्मा की आंखों में झांका। वहां वह खुशी नदारत मिली। बुझती-जलती आंखें देखी हैं कहीं तो मैंने पाया है उसे अम्मा की आंखों में ! खाना खिलाकर जो संतोष उनकी आंखों में झलका था, वह मेरे बोलते ही एकदम नदारत था। उनमें दो बूंद आंसू छलक आये थे, जिसे वे साड़ी के छोर से सुखाने का झूठा प्रयास कर रही थीं।

क्या हो गया ? क्या मैंने कुछ गलत बात कही ? अपनी गलती जानने के लिए उनके बगल में जा बैठा। मेरे खोद-खोदकर पूछने पर उन्होंने ब-मुश्किल इतना ही कहा—कुछ नहीं !

फिर भी मैं उनके मन की गहराई को भांप चुका था। मैंने उन्हें टालने नहीं दिया और बार-बार कुरेदकर पूछता रहा—अम्मा, बताइए न, क्या बात है !

काफी कठनाई के बाद ब-मुश्किल उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा—कुछ नहीं, मुझे याद आ गयी थी तुम्हारे बाबूजी की !

मैंने आगे जानना चाहा, वे बोली—एक बार तुम्हारे बाबू जी काफी दिनों बाद जेल से लौटे थे और जो कुछ घर में था, मैंने जोड़ बटोरकर खाना बनाया। वह उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्होंने ऐसी ही बात कही थी कि कोई मुझसे पूछे कि तुम्हारे इन हाथों को कीमत क्या है तो मैं कहूंगा अरबों-अरबों-अरबों…!

अम्मा की इस बात पर मैं अपने को रोक न सका और मैंने उन्हें बरबस बांहों में भर गले से लगा लिया।

आज भी अम्मा की वे सजीली आंखें जब-तब याद आ जाती हैं। जब भी कभी रात में नींद टूट जाती है और परेशान होता हूं तो ताशकंद जाने से पहले कही गयी बाबूजी की बातों और उनकी आंखों की गहराई कि तुम अगर देश के लिए तीस हजार कर लोगे तो हम तुम्हारी काफी तारीफ करेंगे और मैं उनके दिये गये वादे के तीस हजार इकट्ठा करने में अपना सारा जीवन खर्च करता रहूं, तभी अपने को सफल मानूंगा !

एक और अभिवादन

गणतन्त्र दिवस। आज बार-बार दूरदर्शन पर तिरंगे झण्डे को देख एक भावना उठी, गर्व का अनुभव कर रहा था मैं भारतीय नागरिक

होने का ! बार-बार मन करता था कि तिरंगे को सैल्यूट करता रहूं पर साथ ही मन में कहीं तूफान भी रह-रहकर उमड़ रहा था। वह तूफान जो कि आतंकवाद के समाचारों से, तोड़-फोड़ की घटनाओं से पूरी तरह बोझिल है ! जहां एक ओर तिरंगे को ऊंचा लहराता देख रहा था, उसमें से देश की ऊंचाई झांक रही थी, दिखाई पड़ रही थी, वहीं दूसरी ओर देश के ऊपर कितना बड़ा संकट है, इसका अहसास मन को विचलित कर रहा था।

संकट के बादल मंडरा रहे हैं ! भयानक संकट के विचार से मन आतंकित ! पिछले दिनों राजीव जी ने जब भारतीय युवक कांग्रेस के महाधिवेशन को सम्बोधित करते हुए युवकों को आगे निकलकर आने के लिए कहा और 'भारत बनाओ' का आह्वान किया, तो मेरे मन में एक गीत ने जन्म लिया—

"मिल-जुल कर सब आओ
भारत देश बनाओ…।"

लेकिन मन अब सोचता है, क्या यह कहीं अधिक सही न होता यदि मैं पंक्तियां इस प्रकार से लिखता—

"मिल-जुल कर सब आओ
भारत देश बचाओ…।"

यह 'बचाओ' की बात मेरे मन में आयी थी, क्योंकि आज परीक्षा की घड़ी अपने देश के नागरिकों के सामने आ खड़ी हुई है। हमारा दायित्व बनता है कि हम गम्भीरता से विचार करें कि कैसे हम अपने को और अपने इस देश को बचायें।

सच है पिछले कई वर्षों से हम प्रगति करते आ रहे हैं। विकास हमने किया है आज और विश्व में सम्मान-जनक स्थान भी अपने देश का बनाया है, लेकिन क्या हम भारतीय नागरिकों के मन में, एक दूसरे के लिए, सम्मान बना सके या एक-दूसरे प्रदेश के बीच एकता का, स्नेह का, सम्मान का रिश्ता जोड़ने में सफल हो सके ? एक ज्वलंत प्रश्न मेरे मन को बार-बार काट रहा है : क्या हम अपनी गलतियां नहीं सुधार सकते ?

यह तो सम्भव नहीं कि मैं अकेला या मेरे जैसे अकेले लोग ऐसी सफलता पा सकें, जिससे कि देश की एकता और अखण्डता सुरक्षित रहे। यह भी सच है कि जब-जब देश के ऊपर खतरा आया, देश के हर

नागरिक के मन में उसने उसके राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्रीय चरित्र को उभारा और फलस्वरूप देश की एकता-अखण्डता बरकरार रही। क्यों, आज हम देश के उस प्रेम को, जो हर भारतीय चरित्र, भारतीय नागरिक के मन में है, छिपा हुआ है, उभारने में सफल नहीं हो पाते! केवल जब देश पर खतरा आये, तभी उसे देख पायेंगे। अगर हम देश के प्रति उस प्रेम को हमेशा के लिए उभार सकें, तो शायद, कोई भी शक्ति इस विश्व में नहीं होगी, जो हमें किसी भी तरह तोड़ सके, हमें आगे बढ़ने से रोक सके।

आज जिधर भी जाइए, सुनने को मिलता है, यहां पर इतने मारे गये वहां इतने, यह हुआ वह हुआ—क्या अब यही देश का लक्ष्य बच गया है आज! यदि नहीं, तो आइए हम सोचें, गम्भीरता से बात करें कि हमें कोशिश करके किसी भी तरह ऐसा माहौल बनाना चाहिए, जिससे बचपन से ही बच्चों में देश के प्रति सच्ची श्रद्धा और सम्मान पैदा हो। आज विभिन्न राजनैतिक दल तरह-तरह की सोसाइटियां या चैरिटेबिल ट्रस्ट और ऐसी अनेक संस्थाएं, जो अपनी समझ से अच्छा काम कर रही हैं, उनके लिए कोई 'कम्पलसरी' बा । हो ऐसी आवश्यकता नहीं, लेकिन उनके संविधान का एक अंग यह जरूर होना चाहिए कि वे लोगों में देश के प्रति प्रेम के बीज बो सकें। आपसी सद्भाव और सहिष्णुता पैदा कर सकने में सफल हो सकें। जिसमें देश की एकता, अखण्डता, देश का संविधान, देश का राष्ट्र-गीत, राष्ट्र-गान, देश का तिरंगा झण्डा—इन सबके प्रति सम्मान और राग-लगाव, उनके विचार और प्रसार का एक अंग होना चाहिए। अगर यह भावना हर राष्ट्रीय दल या चैरिटेबिल इंस्टीट्यूशन, या कोई भी ऐसी अन्य संस्था, उसके इंस्टीट्यूशन, अपने सदस्यों के मन में इस भावना को सर्व प्रथम की प्रथमिकता दें, उसे जगायें, तो यह पहल, जितनी देश के हित में होगी, उससे कहीं अधिक उस संस्थान और उसके सदस्यों के हित में भी होगी।

साथ-ही-साथ आप मेरे साथ यह भी महसूस करेंगे कि जितनी भी क्षेत्रीय पार्टियां हैं, जो रिजनल पार्टियां बनी हैं, डेमोक्रेसी में ऐसी पार्टियों का होना स्वाभाविक है, लेकिन इन सभी रिजनल पार्टियों का सबसे पहला उद्देश्य हो तो वह है देश की एकता, देश का सम्मान, देश की संस्कृति सुरक्षित रखने की बात। फिर उसके बाद वे अपने

क्षेत्र की बात कर सकते हैं, क्योंकि आप भी स्वीकार करेंगे कि देश के भाग्य के साथ क्षेत्र का भाग्य और उसकी भलाई जुड़ी है। अगर आज हम यह नहीं करते तो शायद आगे आने वाला समय एक ऐसा समय होगा, जबकि हमारे सामने क्रांति के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखायी पड़ेगा। मेरा अपना विश्वास है कि रेव्यूलूशन की आवश्यकता ही हमें नहीं पड़नी चाहिए, क्योंकि हमने और हमारे देश ने हमेशा सही रास्ते पर चलने का प्रयास किया। आज अगर कुछ लोग यह समझते हैं कि वे अपने निहित स्वार्थ के लिए अपने तरीकों से देश में गलत वातावरण बना सकते हैं, युवा-शक्ति एवं किसानों की कमजोरी के कारण उनका शोषण कर सकते हैं तो इससे देश की एकता, अखंडता में बाधा पड़ती है, पर वे इसका विचार नहीं करते ? दबाव में आने के फलस्वरूप शोषित व्यक्ति में क्रांति की भावना जागती है और वह कुछ भी करने पर आमादा हो जाता है। वह सारा विघटन न हो इसलिए हमें आज के इस पवित्र पावन पर्व पर इस बात की शपथ लेनी चाहिए, इस बात की प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हमें एक सच्चे भारतीय नागरिक की भूमिका निभानी है। कह सकते हैं कि मुझे जन्म से घर-परिवार से विरासत में मिली भावना का यह फल है कि इस तिरंगे, इस अपने देश के प्रति एक अटूट लगाव महसूस करता। शायद यही कारण है कि मैं अपने तिरंगे की शान हमेमा सुरक्षित रखने की बात सोचता हूं और मुझे अचानक बाबूजी की वे पंक्तियां जो उन्होंने 15 अगस्त, 1965 को लाल किले से इस देश को संबोधित करके कही थीं, मेरे मन में गूंज उठी हैं। उन्होंने कहा था—

"हम रहें या न रहें,
यह मुल्क रहेगा
यह झंडा रहेगा,
यह तिरंगा रहेगा।"

और आज यह मुल्क भी है। यह झंडा भी है। लेकिन अगर कमी है तो वह देश का राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय प्रेम से वंचित होना !

आज हर भारतीय के मन में अपने देश के प्रति श्रद्धा और लगाव को हर माध्यम से तैयार करना होगा, जिससे वे अपने आप को जिस तरह के भी सीमित क्षेत्रों में बंधे हुए हैं, उससे वे बाहर निकलें और देश के विकास के हर कार्यक्रम में अपने आप को पूरी तरह से जोड़ें।

उन्हें महसूस होना चाहिए, लगना चाहिए कि यदि इस कार्यक्रम से, इस प्रोग्राम से उन्हें कोई लाभ नहीं पहुंच रहा है, तो जरूर उनके दूसरे किसी भाई को लाभ मिलेगा या पहुंचेगा। अगर ऐसी भावना हम उत्पन्न करने में सफल हो सके, तो शायद आगे आने वाले वर्ष बहुत अच्छे वर्ष होंगे और हमें जो गौरव प्राप्त हुआ है, विश्व के मार्ग-दर्शन का, इस गौरव को हम हमेशा अपने साथ अपने देश के साथ बनाये रखेंगे और विश्व के विकासशील देशों में भारत का नाम जगमगाता रहेगा। इसलिए अब मेरे गीत की पंक्तियां हैं—

"मिल जुल कर सब आओ
भारत देश बचाओ।"

अपने पूर्वजों से मिली विरासत को हमें अपने लिए ही नहीं आने वाली पीढ़ी के लिए सुरक्षित सौंपना है, यदि हम उन्हें बेगाना, बे-जड़ का नहीं बनाना चाहते—और यह सब सोचते मैं मन-ही-मन दूरदर्शन पर दिख रहे तिरंगे को इस पवित्र पावन गणतंत्र दिवस पर, सैल्यूट करता हूं पूरे गर्व के साथ, जिस पर मेरा पूरा विश्वास और पूरी आस्था है।

कमजोर वर्ग और मेरी यन्त्रणा

एक विवाह से लौटे हम दोनों—मैं और मीरा! रात्रि का समय! कड़कड़ाती ठंडक! बुरी तरह कोहरा, सौ गज की दूरी तो क्या, पचास गज पर क्या है वह भी नहीं दिखाई दे रहा!

हवा से बातें करते, गाड़ी में बैठे हम दोनों! सभी शीशे बन्द! इतनी सर्दी कि मन कर रहा था कि जल्दी से घर पहुंचें और ब्लोअर का आनन्द लें। घर के नजदीक पहुंचते-पहुंचते मीरा ने टोका—आपने देखा?

तब तक गाड़ी मेरे घर के फाटक तक आ पहुंची थी। मीरा का आशय मैं समझ नहीं सका और मेरी आंखें प्रश्न-सूचक दृष्टि के साथ मीरा के चेहरे पर जा गड़ी थीं।

मीरा बोलीं—इधर कई दिनों से उस नुक्कड़ पर एक परिवार आ बसा है। एक महिला और उसके दो बच्चे! एक छप्पर डाल लिया है उन्होंने। पर अभी जो देखा उससे आत्मा सिहर उठी है!

दरबान गेट खोले खड़ा था और मैं गाड़ी अन्दर नहीं ले जा पा

रहा था, क्योंकि मेरे मन की एक बहुत ही कमजोर नस पर मीरा ने हाथ रख दिया था।

बता रही थीं मीरा—वह सामने एक छोटा-सा छप्पर है, दोनों तरफ कपड़ा-सा छत झूल रहा है और सारा कुछ खुला हुआ, बेपर्द ! और सर्दी ! एक कथरी में अपने दोनों बच्चों के साथ कैसे जीती होगी, वह मां !

मन ने तमाचा मारा। कलेजे में गर्म ब्लोअर धकधकाकर चल पड़ा : टूटी खाट, कोहरा, कैसे सो रहे होंगे वे बच्चे, वह मां ! कड़कड़ाती इस ठंडक में वे तीनों !

लिहाफ में पड़ा अपने को नितांत नंगा और कमजोर महसूस करता मैं मीरा की बात को न जाने रात में कितनी देर तक जीता रहा। जाने कब आहट पा मीरा ने फिर टोका—नींद नहीं आ रही ?

मैं चुप। अपनी जबान को तालू से लगा सूख आये हलक को सींचता रहा। लोग पक्के घर में। गद्दों की चारपाई पर। रजाई के अन्दर। सब खिड़की-दरवाजे बन्द कर सोये हैं, फिर भी सी-सी करती ठंडक लगती है। इसे मिटाने के लिए ब्लोअर या हीटर जला लेते हैं और फिर भी सर्दी नहीं जाती। मीरा को जवाब नहीं दिया जा सका। मन फिर सवाल करता है : क्या लगती है वह मेरी, उन दो बच्चों वाली वह मां !

सोचकर मन भर आता है पर किसी तरह भी मैं उस मां को, उसके बच्चों को, अपने से अलग नहीं कर पाता—वे कैसे गुजारा कर रहे हैं। उन बच्चों को क्यों यह प्रश्न नहीं बींधता होगा ? क्या यही हमारा देश भारत है ?

और मेरा मन मुझे चटा-चट तमाचे मारता पूछता है : यही है हमारा विशाल देश भारत ? कहां हैं हम लोग ? क्या कर रहे हैं हम लोग ? यह तो एक मां और दो बच्चों की बात है। ऐसी अनेक मां और बच्चे देश में होंगे, जिनको ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा होगा। मन नहीं माना; देखा, पाया मीरा भी जग रही हैं। मैंने मीरा से कहा—उठो, अपने बच्चों के ऊनी कपड़े, और वह रजाई निकालो—उन्हें जा दे आते हैं।

मीरा बोली—पर इतनी रात में···

बिना कुछ आगे बोले, खड़े होते-होते मीरा ने बत्ती जला दी थी। मैं चुप पड़ा मीरा को आलमारी खोलते कपड़े छांटते देख रहा हूं। मीरा मुझसे एक कदम आगे हैं। मैं जानता हूं कि वह दरबान के हाथ कपड़े, रजाई नहीं भिजवायेंगी। वह खुद चलकर उस जगह नुक्कड़ पर जायेंगी।

मैं मीरा को बाहर जाते देख रहा हूं। मेरे कमरे का ब्लोअर और हीटर मेरे कलेजे में धधक रहा है, क्योंकि मन ने फिर मीरा को बाहर जाते देख चटाक-चटाक तमाचे जड़ दिये हैं। एक को सुख देकर तुम उस गरीबी से पार नहीं पा सकते। मैं चुप अपने मन की गरीबी से जल रहा हूं। मेरे पास जो कुछ है, मैं बांटकर जीना चाहता हूं। बाबूजी ने कहा था—नानक नन्हें छे रहो जैसे नन्हीं दूब, और रुख-सुख जायेगा दूब दूब भी खूब।

अम्मा के साथ वे पल

त्यौहार और पर्व के पीछे पूर्वजों की और कोई भावना हो या न हो, पर इतना तो जरूर है कि लोगों के मन में वे अपनों के पास लौटने की भावना, जड़ों से जुड़ने की बात, अनायास ही पैदा कर देते हैं। जड़ से कटे-उखड़े, भटकते हुए लोग घर, गांव और देश लौटते हैं। ऐसा कुछ मेरे मन में भी उठा वापस घर, मां भाई के बीच लौटूं। काम की आपाधापी काफी थी, फिर भी, सबको तिलांजलि दे परिवार के साथ दिल्ली मां के पास पहुंचने की बात सबसे ऊपर हो आयी और हम सब दिल्ली के लिए दशहरे पर रवाना हो गये।

रास्ते में जहां पल-प्रतिपल परिवार, बच्चों और पत्नी के साथ जी रहा था वहीं ऐसा भी अनुभव हो रहा था कि समय के साथ काफी कुछ छूटता जा रहा है। जैसे-जैसे बड़ा होता जा रहा हूं, उम्र बीतती जा रही है, वहीं अम्मा के प्रति ज्यादा प्यार, स्नेह और श्रद्धा बढ़ती जा रही है। बार-बार मन यही करता है कि उनके पास पहुंचूं या वे अपने पास आयें।

अम्मा के पास पहुंच मन बचपन में लौट जाने को करता है और उस काल की अनगिनत घटनाएं, यादें, आंखों के सामने घूमने लगती हैं।

बहुधा ऐसा भी हुआ है। मैं काम से घिरा परेशानी से भर उठा हूं। समस्याएं मुझ पर हावी हो आयी हैं, तब एहसास जागा है कितनी ही बार कि बचपन के वे दिन फिर से वापस लौट आयें और मैं उनमें खो जाऊं। शायद यही कारण है कि मन बार-बार अम्मा के पास ले जाने के लिए मजबूर करता है। मन को टटोलने पर पाता हूं एक और कारण, जब समस्याओं से घिरा होता हूं तो अम्मा के पास रहने के कारण अम्मा के अनुभवों का फायदा उठा, परेशानियों को दूर कर लेता हूं। मेरे सवालों के जवाब में अम्मा बाबूजी के साथ घटी घटनाओं का चित्रण करती हैं, तो लगता है कि जब इतनी कठिन-कठिन परिस्थितियों में बाबूजी ने मुस्कराते हुए आसानी से वह सब झेल लिया, तो उनके पुत्र होने के नाते मैं क्यों भयभीत हो उठता हूं या क्यों घबराने लगता हूं ?

कारण कुछ भी हो, बात सिर्फ इतनी है कि जब साधारण समय में मैं अपने को अम्मा से अलग नहीं कर पाता, तो तीज-त्यौहार में कैसे उनसे अलग रहा जा सकता है। मन करता है कि ऐसे समय या तो वे साथ रहें या मैं अम्मा के पास आता-जाता रहूं। मुझे अपने में खोया-डूबा देख मीरा बरबस पूछती रहीं : मै क्यों गुमसुम हो उठा हूं ?

उस दिन दिल्ली पहुंच अनोखी बात घटी। इस बार दशहरे पर बाबूजी की बहुत याद आयी। मन का कसैलापन दूर करने के लिए मैं मीरा के साथ घूमने-टहलने भोर में ही निकल पड़ा। लखनऊ में रहते हुए भी कई बार, कितनी ही कोशिश की कि सुबह मार्निंग वाक पर जाया करूं, लेकिन थकान, कभी-कभी आलस इस तरह के नित्य का कार्यक्रम नहीं बनाने देता। लेकिन इस बार दिल्ली आया तो मौका मिला। सुबह टहलने की बात अचानक बन गयी और घूमते हुए मैं बाबूजी की यादों को मीरा के साथ बांटते जीता रहा।

घूमकर घर लौटे, तो मैंने पाया मेरे भतीजे लगन (अनिल भैया के दूसरे पुत्र) और मेरा दूसरा बेटा वैभव उस बैडमिंटन कोर्ट में, जिसमें हम सब भाई-बहन बचपन में बाबूजी के साथ बैडमिंटन खेला करते थे, खेल रहे हैं।

मीरा को पीछे छोड़, मैं बैडमिंटन कोर्ट में बच्चों के साथ खेलने चला गया। उस खेल से मन बदला। वापस लौट मैं मीरा को साथ ले

दोस्ती और स्वार्थ

राजनीतिक जीवन, अवाम के बीच रहते-रहते आदमी कितनी ही घरेलू परिस्थितियों से कट जाता है। मैं लगातार कोशिश करता हूं कि सब कुछ होते हुए भी अपने सामाजिक दायित्यों को बरकार रखूं। पर कभी-कभी लगातार की भाग-दौड़, मीटिंगें और सरकारी ताम-झाम एकदम उबाऊ हो जाता है और उस दिन इसी तरह की मन.स्थिति में बहुत थका हुआ दफ्तर से लौटा। इतना थका था कि जरा भी इच्छा नहीं हो रही थी कुछ करने की। बस मन में यही आ रहा था कि जल्दी-से-जल्दी घर पहुंचें। मीरा मुझे खाना दें। खाना खाकर, कोई अच्छी-सी पुस्तक ले, हल्का-सा संगीत टेप रिकार्ड पर लगा लेट जाऊं। यही सब सोचते-विचारते मैं घर आ, रसोई की ओर बढ़ा और मीरा से कहा—जल्दी से मुझे खाना दो! मेरे लिए मेरी पत्नी अपने हाथों खाना बनाती हैं। खाना देने से पहले मीरा बोलीं—एक कार्यक्रम तो आप भूल ही गये!

भौंवें चढ़ाकर गुस्से में बोला—बाबा, अब कोई काम न बताना, पूरी तरह से चूर हो चुका हूं।

इस पर मीरा बोलीं—एक दोस्त के यहां आप ने कई दिन पहले जाने के लिए आज के दिन वादा किया था और शाम से कई फोन आ चुके हैं उनके।

मन में बहुत गुस्सा आ रहा था, लेकिन समय तो मेरा ही दिया हुआ था, मीरा पर गुस्सा निकालने से क्या फायदा होता!

दस, सवा-दस का समय, सरकारी गाड़ी विदा कर चुका था। मन न रहते हुए भी निजी गाड़ी निकाली और मीरा को साथ ले, हम दोस्त के घर के लिए रवाना हो गये।

गाड़ी चलाते अपने आप से बक-बक करता रहा—लोग कुछ समझते ही नहीं औरों की कठिनाई! अपना कोई काम होता तो! बार-बार पीछे पड़े रहे कि मैं समय दूं। अब मुझे क्या मालूम था कि इतना व्यस्त दिन होगा आज का, और इतनी देर हो जायेगी! काश, मैंने उन्हें समय न दिया होता, तो इस आफत से मुक्त रहता।

मैं बकता-झकता गाड़ी चलाता रहा। मेरी बक-झक पर मीरा ने टिप्पणी की—आप ने यह कैसे समझ लिया कि हर व्यक्ति आप से कुछ-

न-कुछ चाहता ही होगा या उसका कुछ-न-कुछ काम होगा। जहां तक इस परिवार का प्रश्न है, जहां हम चल रहे हैं, उन्होंने आप से समय मांगा, आप ने समय दिया। एक बार समय देने के बाद चाहे जैसी भी कठिनाई हो, वहां पर जाना आप का फर्ज बनता है और फिर वे तो आपके दोस्त हैं !

उस पल मीरा की बातें मुझे जरा भी अच्छी नहीं लग रही थीं। समय काफी हो चुका था, थक इतना चुका था और बस मन यही कर रहा था कि जल्दी-से-जल्दी वहां पहुंचूं, दस-पांच मिनट लगा, खाना-पूरी कर, वापस लौट आऊं।

मीरा मेरी परेशानी को अच्छी तरह समझ रही थीं। मेरा मन बदलने के लिए उन्होंने चर्चा छेड़ दी—वे आप के दोस्त हैं, उन्हें आप दोस्त मानते हैं, दोस्ती स्वार्थ के लिए नहीं की जाती।

कभी-कभी मीरा की एक छोटी-सी बात मेरे पैरों तले की जमीन खींच लेती है। अचानक कही गयी उनकी इस बात का एक जबर्दस्त प्रभाव मुझ पर हुआ और मैंने मन की गहराई में पैठते हुए पाया : यह कैसे मन कर लिया कि उनका कोई मतलब होगा मुझे बुलाने का। जब वहां पहुंचे, तो मैंने पाया, पूरा-का-पूरा परिवार यहां तक कि छोटे-छोटे बच्चे भी, उस घर के, हम लोगों का इन्तजार कर रहे थे, बिना खाये-पीये।

इस सबने मीरा की बात पर एक और गहरी छाप डाली और मैं अपनी भूल समझते हुए प्रायश्चित की मुद्रा में उन लोगों के सामने कुछ न बोल सका।

जहां 10 मिनट में लौटने का इरादा था, वहीं दो-ढाई घण्टे कब बीत गये, हमें पता ही न चला।

जब लौटे तो मेरी सारी थकान, सारी परेशानी दूर-दूर तक नजर नहीं आ रही थी। एक अनोखे उत्साह से हमारा मन भरा हुआ था। मैं सचमुच अपनों के बीच सामाजिक स्तर पर जीकर कुछ बांट, कुछ पाकर आया था।

बाबूजी को दिये गये संकल्प को पूरा करने में मुझे न जाने कितने-कितने लोगों का सहयोग मिला है, याद करता हूं वह-सब तो मन रोमांचित हो उठता है, काश जीवन के मोड़ पर वे सारे लोग न मिलते

उन सबसे सहारा न पाता, तो क्या बाबूजी को दिये गये वादों को पूरा करने का अवसर मिलता—शायद ! शायद नहीं !

बाबूजी के न रहने पर घर का सारा भार अम्मा पर आ पड़ा था। मेरा किशोर मन उस भार को बंटाने के लिए व्याकुल हो उठता। क्या करूं कि अम्मा का हाथ बंटा सकूं। परेशान भटका करता। रात में सोते-से अचानक नींद खुल जाती और लगता मैं चारों तरफ लोहे की मोटी चारदीवारी से घिरा हूं। बाहर निकलने का कोई मार्ग या रास्ता ही नहीं सूझ रहा। पब्लिक लाइफ का, लोगों की सेवा का, जो बिरवा बाबू जी मेरे मन के आंगन में लगा गये, उसे बिना पानी दिये ही वे एक अनंत असीम में जा छिपे हैं। सच मानिए, वह बिरवा काफी ढीठ था, सारी आंधियों के बावजूद वह बढ़ चला। अब जब कि इतना समय निकल चुका है, उस बिरवे की बात आप से किये बिना नहीं रहा जा सकता।

परेशान होते, भटकते, जब कहीं कोई आशा की छोर नजर न आयी तो मन में आया, क्यों न मैं इन्दिरा जी से मिलूं। मेरे लिए वे नेता होने के पहले एक मां हैं। अगर उनका ममत्व जीत सका, तो वे जरूर राह दिखायेंगी। यह विश्वास मन में घर कर गया। इसके भरोसे मैं अक्सर इन्दिरा जी से मिलता और उनसे कहता—मुझे सक्रिय रूप से राजनीति में आने का अवसर दीजिए, मैं चाहता हूं कि जिस तरह से हमारे पूजनीय पिता—लाल बहादुर शास्त्री ने पंडित जी के साथ रह कर काम किया और आजीवन उनके विश्वासपात्र रहे, अपने सम्बन्ध में, उतनी बड़ी बात तो नहीं कह सकता, शायद उतना सब मेरे लिए सम्भव भी न हो, फिर भी शास्त्री जी के पुत्र होने के नाते इतना मैं जरूर कहूंगा कि एक पारिवारिक रिश्ता, जो बाबूजी कायम कर गये हैं, उसे और पक्का बनाने में मेरी ओर से आप कोई भी कमी नहीं पायेंगी। मुझे सेवा करने का एक अवसर चाहिए। विश्वास है कि मुझे आपसे पूरा-पूरा सहयोग मिलेगा। मुझे अच्छी तरह याद है, इन्दिरा जी की हंसती हुई आंखें, जब उन्होंने पहली बार मेरी बात सुनी थी और उन आंखों में जो ममत्व का भाव मुझे दिखा, वह मेरे जीवन की अथक थाती है, जो हमेशा चन्दन मणि की तरह जगमगाती मुझे रास्ता दिखाती रहेगी। कैसी ममत्व भरी आंखों से हंसते हुए उन्होंने कहा

था—देखो, मौका मिला, तो जरूर बात करेंगे।

समय गुजरा। सीन बदला। फिर कई मुलाकातों के बाद उनके साथ एक और भेंट। मुझे ठीक याद है, एक नम्बर सफदरजंग के लान का वह हरित वातावरण। हल्की-हल्की दिल्ली वाली असामयिक बूंदा-बांदी और पेड़ों के कचोय रंग वाले धुले, साफ, हरे पत्ते। हवा शरीर को चूमती सिहरन पैदा करती। ऐसे में आप हों और इन्दिरा जी हों, और वे आश्वासन देते हुए आपके पीठ पर अपना स्नेहिल हाथ रख दें। उनके हाथों की वह छुअन, विश्वास कीजिए, मुझे बाबा गोरखनाथ के क्षेत्र में ले जाकर खड़ा ही नहीं करती, बल्कि जीवन में एक ऐसा मोड़ दे देती है, जैसे उस पल जनमानस के सेवा करने की बात मेरे गिरेबान में डाल दी गयी हो।

चुनाव आया, उत्तर प्रदेश विधान-सभा के लिए गोरखपुर से चुनाव लड़ने के लिए मुझसे कहा गया। गोरखपुर उससे पूर्व मेरे लिए केवल भूगोल के नक्शे में ही था। एकदम अनजाना क्षेत्र। एक अनोखी समस्या मेरे गले पड़ गयी थी। कैसे होंगे वहां के लोग? क्या उनसे मुझे इच्छानुकूल सहयोग मिलेगा? चुनाव की बात कोसों दूर, आकाश कुसुम जैसी लगी थी उस पल।

एक अनोखा भय। जरा सोचिए, तीस साल की उम्र। पत्नी और दो बच्चे, क्या इन सबको तिलांजलि दे एक नये रण-युद्ध में उतरा जा सकेगा? लगा सक्रिय राजनीति एक स्वप्न था। काश, वह स्वप्न ही बना रहता। घर, पत्नी, बच्चों की देख-भाल, कहीं अगर सफलता न मिली तो? इस 'तो' के आगे आ खड़ी होती, बाबूजी की महानता, उनका देश-प्रेम, उनका व्यक्तित्व, वह—छाप जो जबरन मुझसे कुछ करवा लेना चाहती थी।

बचपन से मैंने बाबू जी को सक्रिय राजनीति में जूझते देखा था। उन्होंने तो देश के सामने कभी परिवार की बात सोची ही नहीं। बाबू जी ने अगर कभी हम लोगों के बारे में सोचा होता— तब वे अंग्रेजी फिरंगी सरकार के आगे सीना तान जेल की रोटियां तोड़ने न जा पाते। जेल जाकर माफीनामा लिखने में देर ही कितनी लगती है, पर फिरंगी सरकार उनसे माफीनामा लिखाने में हार गई। इस सोच ही ने साहस दिया: अरे सुनील, अभी से घबरा रहे हो, तो देश

की सेवा क्या करोगे ? पर विश्वास कीजिए, मेरे मन की घबराहट, इन्दिरा जी का स्नेह और बाबू जी का आशीर्वाद—टिकट न मिले, ऐसी कोई आशंका भी नहीं। एक तरफ जहां कमजोर मन मुझे पीछे खींच रहा था, वहीं दूसरा बलवान मन मुझे आगे बढ़ावा दे कहता : अभी तैयारी करो, टिकट तो मिलने ही वाला है।

हजार तरह के संशय में डूबता-उतारता मैं। इस मन के द्वन्द्व से एक लम्बी अवधि तक छुटकारा ही नहीं मिल पा रहा था। मुझे साहस के लिए एक सहारा चाहिए था। जिस-तिस से पूछता, अधिकांश यही कहते—राजनीति तो जुआ है—चले चले, न चले न चले। इतनी अच्छी लगी-लगाई नौकरी को तिलांजलि ! न बाबा, मुझसे कहा जाए तो मैं यही कहूंगा ऐसा जोखिम उठाने की अभी उम्र नहीं तुम्हारी।

कुछ लोग और रुकने की सलाह देते। मन न माना, कहने लगा : अरे सुनील, जीवन के तो निकल चुके हैं तीस साल। काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। अगर बाबूजी को दिये गये वचन को निभाना है, तो सोचने से, चिन्ता से कभी समय नहीं आयेगा अपने आप। उठो और कूद पड़ो। याद आती थीं बाबू जी की कही बातें। जनता के बीच जाने का 'वह' अवसर काश उन्होंने मुझे न सौंपा होता। बात है उनके ताशकन्द जाने से या यूं कहूं उनके मौत को गले लगाने से पूर्व की। वे मुझसे जो आशाएं रखते थे वे प्रश्नसूचक बनी मेरे सामने आ खड़ी हुईं, चुनौती देने लगीं।

जब कुछ समझ में नहीं आया तो उन प्रश्नों का उत्तर खोजते-खोजते बरबस अम्मा के सामने जा खड़ा हुआ। मेरे अगल-बगल दो बच्चे थे और पीछे पत्नी। जिम्मेदारी का एहसास जीवन को किस तरह सालता है—काश, मैं अपने मन की पीड़ा, उलझन और ऊहा-पोह को ज्यों-का-त्यों आपके सामने रख, बता सकता, पर शब्दों में वह संभव नहीं।

किसी तरह अम्मा के सामने अपनी समस्या रखी और बोला—आप ही बताइए, मुझे क्या करना चाहिए?

अम्मा ने उल्टे ही मेरे सवाल के जवाब में एक और सवाल खड़ा कर दिया, जिसके बारे में मैंने कभी सोचा ही नहीं था। बोलीं—तुम राजनीति में आना क्यों चाहते हो, सुनील ? मुझे बताओ।

एक पल रुका और मुझे सारा रास्ता साफ, स्पष्ट-सा दिखने लगा। मैं बोला—बाबू जी की कही कितनी ही बातें हैं अम्मा, जो बार-बार मुझे झकझोरती हैं। बाबू जी के जाने कितने अरमान, कितने स्वप्न अधूरे पड़े हैं, जिन्हें वे मुझे सौंप गये हैं, जिन्हें मैंने अपने मन के गह्वर गुफा में बरसों से दबा रखा था, वे मुझे प्रेरित करती हैं, उकसाती हैं—पहल करने को, कदम उठाने के लिए।

और इन्दिरा जी ने कहा था—सुनील, तुम गोरखपुर से चुनाव जीत लोगे न ? और प्रश्न करते हुए जितनी गहरी, पैनी निगाह से उन्होंने मुझे तौला था, उससे कहीं अधिक चुस्त और तीखेपन के साथ मेरी अम्मा ने मुझे एक पल देखा, घूरा और फिर हंस पड़ीं—तब मुझसे क्या पूछते हो, बाबूजी से पूछ लो।

उनके प्रश्न के उत्तर में इस नये प्रश्न ने एक चटखना-सा मुझे मारा। हवा के पंखों पर आकाश में उड़ता, कल्पना के महल बनाता, मेरा मन एकदम धराशायी हो चुका था। कुछ अचकचाया-सा घूरकर देखा मैंने, अम्मा की आंखों में और कहने लगा—बाबूजी से ! उनसे कैसे पूछा जा सकता है अब यह सब ? बाबू जी हमारे बीच कब से नहीं हैं—यह पूछना कैसे हो सकता है ?

अम्मा हंसती ही जा रही थीं मुस्करा कर। उनसे जवाब न पा, मैं कहता ही गया—पर कोई तरीका तो बताइए, उनसे कैसे पूछा जाय।

मेरे इस सवाल पर अम्मा ने जोड़ा—जब भी मेरे मन में कोई बात आती है, दुविधा में पड़ जाती हूं, तो मैं तुम्हारे बाबू जी से ही सलाह-मशबिरा लेती हूं।

मैंने आगे कहा—मुझे भी वह तरीका बताइए कि मैं भी उनसे जवाब पा सकूं अपनी शंकाओं का, समास्याओं का ?

उन्होंने कहा—अच्छा सुनील, एक काम करो। तुम दो परचियां बनाओ—एक में लिखो 'हां' और दूसरे में 'नहीं'।

मेरे मान जाने पर उन्होंने सलाह दी—हम चलते हैं बाबूजी की समाधि पर। हमें साथ ले वे वहां गयीं। हमारे साथ 'हां' और 'नहीं' लिखी दो परचियां थीं। समाधि के सामने खड़े हो अम्मा ने कहा—तोडमोड़ कर परचियां सामने रख दो और आंखें बन्द कर

बाबूजी को याद करो, बेटे ! और उनसे सवाल करो। फिर बाबू जी से किये गये सवालों के जवाब में एक परची उठाओ। उनसे जैसा निर्देश मिले, वही करो। वही तुम्हारे लिए बाबू जी का दिया आदेश-निर्देश होगा।

काश, अम्मा ने समाधि पर आने से पूर्व यह सारी बात बता दी होतीं, तो शायद मैं यहां उन्हें उलझन में डालने की कोशिश ही न करता। मैंने आपसे कहा न, स्वप्न अच्छे लगते हैं, बहुत भाता है मन को कल्पना के पंखों पर उड़ना, पर जब वह स्वप्न यथार्थ का जामा पहन आ खड़ा होता है तो उससे एक-दो-चार होने पर आटे-दाल का भाव पता चल जाता है। वही सब मेरे साथ हो रहा था।

बाबूजी की समाधि पर सामने पड़ी थीं परचियां लेकिन आप मेरी नयी उठ खड़ी हुई परेशानी का अंदाजा लगा ही नहीं सकते। मन कैसा सशंकित हो उठा था उस पल। कहीं मैंने उठाया और मेरे सामने 'इनकार' वाली परची खुल गई तब। तब क्या फिर वापस लौटा जा जा सकेगा। जीवन की अभिलाषा, इच्छा और बरसों देखे, जिये, संजोये गये स्वप्न का क्या होगा ? क्या यह कहकर कि बाबूजी के न होने पर उठायी गयी परची में निकला आदेश मेरे जीवन की राह तय कर देगा। समझ में नहीं आता, मैं किस तरह उस क्षण के अपने मन के भाव, परेशानी और उलझन को कलेजा चीरकर के आपके सामने रख दूं। मैं ऐसा भुक्त-भोगी था जिसकी गति सांप-छछूंदर जैसी हो उठी थी उस पल। वह सब मन की कमजोरी ही तो थी।

इन्दिरा जी के इतना पीछे पड़कर उन्हें राजी किया था, उस सारी मेहनत और भाग-दौड़ का क्या बनेगा ? कहीं सारी बातों पर पानी न फिर जाय। जहां यह विचार मन में आया, वहीं यह बात भी आ सामने खड़ी हुई कि अभी तक तो सक्रिय राजनीति केवल सपनों का महल ही थी। यदि वह करनी ही पड़ी, तो जो चुनौती सामने आयेगी, क्या उसके लिए मैं सक्षम हूं, उसे पूरा करने की सामर्थ्य कहां से लाऊंगा ? एक तरफ गढ़ा, दूसरी तरफ खाई। क्या करूं ? कैसे करूंगा ?

पूरी तरह मन का नक्शा साफ याद आ रहा है। लगा, जैसे बाबू जी सहारे के लिए पास आ खड़े हुए हैं। जहां, एक दिन पहली बार,

मैंने इन्दिरा जी के सामने अपने मन की गांठ खोली थी और उन्होंने मेरी पीठ पर स्नेह से अपना हाथ रखा था, वहीं शरीर में उसी स्थल पर उनके स्पर्श की गर्मी ताजी हो आई, वह स्पर्श इन्दिरा जी के स्पर्श से बदलकर बाबूजी वाले स्पर्श की गर्मी में परिवर्तित हो उठा।

कैसा शान्त था वह समाधि-स्थल। मन से उलझते मैं शांत खड़ा था, देखा, पाया, हल्की हवा चलने लगी है। आस-पास की झाड़ियों, पेड़ों पर हवा का स्पर्श। एक पल में सारा माहौल जैसे बदल गया। मन-ही-मन बाबू जी को याद कर प्रणाम किया। मन ने दोहराया : आपका आशीर्वाद हमेशा मिला। अभी भी वह मेरे साथ है। प्रार्थना है कि आज की तरह भविष्य में भी वह मेरे साथ रहे और आगे भी मेरा मार्ग बताते रहें। लेकिन आज, आज जीवन के एक बहुत गम्भीर और महत्त्वपूर्ण फैसले की बात आयी है। काश, मेरे सामने यदि आप आज होते, तो हम लोग इस सवाल के जवाब में न जाने कितनी देर और कितने दिनों तक विचार-विमर्श करते रहते, पर आज हमारे-आपके बीच कागज के ये दो छोटे टुकड़े हैं, जिसमें एक पर 'हां' और दूसरे पर 'नहीं' मैंने ही लिख रखा है। मेरे जीवन की धारा, मेरे जीवन का रास्ता इन दो शब्दों में से एक पर बंध जाने वाली है।

मेरी आंखें बन्द थीं। मन में उतावली। बाबूजी, उनकी कितनी बड़ी कमी मैं उस पल अनुभव कर रहा था। काश, वे इस पल मेरे पास होते। और तभी मैंने आंख खोली, तो पाया आस-पास पड़ी दोनों परचियों में से एक मेरी ओर हवा के हल्के थपेड़े से खिसक आई है। हल्के हिलोरे से स्पंदित हो मेरी ओर सरक आने वाली परची में कितना हाथ भाग्य का, कितना विधाता का है, यह मैं नहीं जान सकता, पर उस पल यही लग रहा था कि वह घेरा जिसे आप माहौल कहें या कुछ और वह तब मुझे अपने आस-पास अपने बाबूजी की उपस्थिति महसूस करवा रहा था। लाजमी था कि पास बढ़ आई हवा के झोंके वाली परची ही मैं उठाऊं। मैंने उसे उठा, बिना खोले और बिना देखे अम्मा की तरफ बढ़ा दिया।

अम्मा ने उसे बिना लिये ही मेरा हाथ, मेरी ओर लौटाते हुए कहा—यह तुम्हारे लिए है, तुम देखकर मुझे बताओ।

कहना न होगा उसमें 'हां' ही लिखा था। उस पल मैंने दोनों हाथों से अम्मा को भर लिया और पाया वे मेरा माथा चूम रही हैं। उनकी पुच्ची की गर्मी अभी भी, जब मैं आपके साथ बांट इसे जी रहा हूं, तो मेरे माथे पर जहां पर उन्होंने प्यार से अपने अधर रख दिये थे, वह सारी जगह, पूरे ममत्व और सलोनी ममता से भरपूर चुनचुना आयी है।

इन्दिरा जी ने प्रश्न और पैनी निगाह से तौलते हुए पूछा था—सुनील, तुम गोरखपुर से चुनाव जीत लोगे ?

और मेरा उत्तर—जीतूंगा जरूर, लेकिन यह कहिए आप मुझसे यह पूछ क्यों रही हैं ?

साथ-साथ चलते, मेरे सवाल का उत्तर देने से पहले ठिठककर उन्होंने अति प्यार और गहरे स्नेह से मेरा हाथ पकड़ा था और कह उठी थीं—इसलिए कि मैं चाहती हूं कि तुम चुनाव जीतकर ही लौटो।

यह बात बताना अनावश्यक न होगा कि इन्दिराजी में वक्त पहचानने की अदृश्यमयी ताकत थी। समय देख वे जो भी पांसा रखतीं, हमेशा खरा उतरता।

मेरी आंखें उनसे कह रही थीं कि आप के विश्वास के समक्ष मैं भी खरा उतरूंगा। आप की बात सिर आंखों पर। और उनका स्नेह मेरे चलते समय, आशीर्वाद का प्रतीक था।

राजनीति के चलते चक्के में सबसे बड़ी कमी अगर कोई आड़े आती है तो वह है समय की। कितना भी कुछ कीजिए, समय पूरा पड़ता ही नहीं। यह उस पल से ही समझ में आ गया, जब मैं दिल्ली से गोरखपुर के लिए चला। अगले दिन ढाई बजे तक गोरखपुर पहुंच नामांकन के परचे दाखिल कर देने थे।

कार से लखनऊ पहुंच मीरा और अपने दोनों बच्चों को छोड़ वहां से गोरखपुर—अनिश्चित गन्तव्य की ओर। रात साढ़े दस बजे अम्मा का आशीर्वाद ले कार में जा बैठा।

दिल्ली पीछे छूट गया।

मन एक नये उत्साह से भरा था। जोश मन से आगे भाग रहा था।

बकलम खुद गाड़ी चलाने के लिए स्टेयरिंग पर।

पत्नी से जो बातें हुईं, उसका लेखा-जोखा अक्षरश: याद है। समय आने पर वह फिर कभी। अभी तो बस मन की जानिए जो मोटर गाड़ी से हमेशा आगे—मीलों आगे भाग रहा था।

आठ बजे लखनऊ जा धमका। वहां बैंक में, बैंक आफ इण्डिया में नौकरी कर रहा था उन दिनों। बिना नहाये, बिना खाये-पिये मीरा और बच्चों को लखनऊ छोड़ मैं लगभग दो बजे के आस-पास गोरखपुर में था।

गोरखपुर का वातावरण तो और ही जान-लेवा। यूं समझिए कि सर मुड़ाते ही ओले पड़े। यहीं से आरम्भ होती है राजनीति। बाबू जी के श्री चरणों, उनके पादारवृंदों के साथ चलने की कहानी।

गोरखपुर।

वहां दो बजते-बजते कितने ही लोगों को अंदाज हो उठा था कि मैं मैदान छोड़ कर पलायन कर चुका हूं। कई लोगों ने डमी कैंडीडेट खड़े कर नामांकन भी भर डाले थे।

कई और लोगों के चेहरे पर निराशा के चिह्न इसलिए भी दिख रहे थे कि मैं क्यों ऐन वक्त पर आ पहुंचा हूं। उन्हें भरोसा हो चला था कि मेरे न होने पर मैदान उनके हाथ होगा।

कई लोगों के चेहरे पर अतिशय खुशी की झलक भी दिखी। लगा जैसे उन्हें कोई खोई निधि हाथ आ लगी हो। इनमें से कई लोग ऐसे थे जिन्होने बाबूजी को नजदीक से देखा और सुना था। उन्हे यह कमी महसूस हुई थी क्योंकि उन्होने शास्त्री जी को खो दिया है। मुझे वहां पर देख उन्हें लगा जैसे शास्त्री जी ही फिर से उनके बीच वापस आ गये हैं। वहां गोरखपुर में पहले पल सामने आयी ऐसी मिली-जुली प्रतिक्रिया किसी को भी सचमुच परेशान करने वाली थी। मैने कभी इस तरह की उलझनों को जिया-भोगा नहीं था। हां, कभी-कभी बाबूजी के आस-पास के राजनीतिक अपनी समस्याए लेकर आते थे। वह सब मेरे लिए उस काल में दूर की बातें थीं, प्रत्यक्ष अनुभव की नहीं। पर मैंने मन की गहराई में अपने को डाल उन प्रतिक्रियाओं का उत्तर जल्दी निकाल लिया, क्योंकि मेरे पास मेरे बाबूजी का अनुभव था जो मुझे

विरासत में मिला था। उस सहारे पर तो मैं गर्व कर ही सकता हूं।

अभी नामांकन पत्र भरने की प्रतिक्रिया में ही था कि पाया एक साथ पन्द्रह-बीस लड़कों का एक झुण्ड कमरे में दाखिल हुआ। उनमें से एक युवक जिनका नाम बाद में पता चला, शायद वह उनका सरगना ही रहा हो, पर उस पल तो उसकी तेज आवाज ही कानों को कुरेद रही थी और वह कह रहा था—जी, स्काई लैब आ गिरा है। एक बाहर के आदमी को गोरखपुर से चुनाव लड़ने के लिए भेजा गया है।

मैं परदेशी हूं। बाहर का हूं। देश में भी परदेश। मन ने प्रण लिया: सुनील, सबसे पहले इस खाई को पाट बराबर करना होगा तुम्हें।

क्या किया जा सकता है? मन से मैंने प्रश्न किया।

वह बोला : इसे मित्र बना लो, सुनील ! इसे जीत लो।

मैंने अपना नामांकन पत्र उसके सामने रखा और प्रस्तावक के रूप में उस पर हस्ताक्षर करने का अनुरोध किया।

एक पल उसने मुझे निहारा और फिर बिना कुछ कहे, बिना किसी उज्र के हस्ताक्षर कर मेरा नाम प्रस्तावित कर दिया। आप मानेंगे, चुनाव के दौरान वह मेरे काफी निकट आ गया। उसे साथ रखा। उसने मदद की। पाया, लोगों की आम धारणा कितने गलत तथ्यों पर आधारित हो, अच्छे-भलेमानस को भी गलत काम कराने पर मजबूर कर देती है। लोगों का आरोप था कि यह नवयुवक गुमराह है। गलत लोगों के साथ उठता-बैठता है। गलत काम करता है।

सबकी सुन मैंने बीड़ा उठाया कि अपने मित्र की राह बदल देनी होगी। फैसला किया—यदि यह नौजवान गलत है, लेकिन अब जब कि मैंने अपने पंख तले ले लिया है, तो उसे सुधारना होगा। बाबूजी ने ऐसा कितनी ही बार किया है। उनके सम्पर्क में आये लोग बदले हैं। मैंने तय किया : चलो यह प्रयोग ही सही। आखिर मुझे सफलता मिली।

आज मेरा वह साथी मेरे साथ गाड़ी में था। हम लोग नगर के एक स्कूल के सालाना जलसे में गये। यहां मेरे बेटे पढ़ते हैं। मैं उस जलसे का मुख्य अतिथि। लाजमी है समारोह के अन्त में मुझे बोलना पड़ेगा। ऐसा क्या कहा जाए कि बात बच्चों के दिल-दिमाग को छूए, उन पर असर करे !

बच्चों से बात करने में एक अनोखा आनन्द आता है। मेरी बात

भाषण वाली न हो, मैंने इसके लिए सजगता बरती। दूसरों को शिक्षा देना बहुत आसान है, लेकिन वह सब सिर के ऊपर से चली जाने वाली है। आखिर मैं भी पिता हूं और मेरी भी जी-जान चेष्टा और अथक कोशिश का फल यह रहा है कि लगभग हर जुमले पर बच्चे हो-होकर हंसते और ताली बजाते रहे। मेरी बात में बच्चे ही शामिल नहीं हुए बल्कि उनके अभिभावक और माता-पिता भी आनन्द लेते और हंसते रहे। उनकी बताई बातों के बीच की एक घटना अभी भी याद है और शायद सारी जिन्दगी मेरे मन पर छाई रहेगी। उन दिनों बाबूजी केन्द्र में रेल मन्त्री थे और मैं दिल्ली के सेंट कोलम्बस स्कूल का विद्यार्थी।

कहना न होगा कि हमें होमवर्क मिलता और उसे पूरा न करके जाने पर केनिंग होती। मार का डर कि शायद क्रिकेट के दिन थे। मैच चल रही थी। फलस्वरूप मैं छुट्टी के सारे दिन खेलता रहा और होमवर्क पूरा नहीं कर पाया। फिर सोमवार को स्कूल जाने की बात तो यमराज के यहां जाने जैसी लगती थी। उस दिन सुबह से उठते ही बहाना बनाया कि पेट में मेरे बहुत तीखा दर्द हो रहा है। अम्मा ने बात सुनी-अनसुनी कर दी तब और कोई चारा न देख बाबूजी के पास गया। देखा वे अपनी फाइलों को निबटाने में लगे हैं। चुप उनके पास जा, पैरों के पास घुटने में उनके सिर छुपा बैठ गया। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरते पूछा—क्या बात है ? स्कूल के लिए तैयार नहीं हुए ?

मैंने पूरा नाटक करते हुए अपने पेट के दर्द की राम-कहानी सुनाई। उन्होंने बात सुनी और धीरे से मेरा सिर थपथपाते हुए कहा—अच्छा-अच्छा !

फिर वे अपनी फाइलें निबटाते रहे और मैं उसी तरह उनके प्यार का सान्निध्य पाता उनके पैरों के पास सिर गड़ाये बैठा रहा। मेरा ध्यान बाहर की आवाजों पर लगा था क्योंकि हरि भैया और अनिल दोनों स्कूल जाने की तत्परता में लगे थे। जब गाड़ी उन दोनों को लेकर चली गई तो बाबूजी ने फिर मेरा सिर थपथपाते कहा—जाओ, अब तुम्हारे पेट का दर्द ठीक हो गया होगा। मैं उनके मुंह की तरफ देखता रह गया। उन्होंने आगे कहा—गाड़ी गई। आज तो ठीक, अब आगे से कभी तुम्हें पेट का दर्द नहीं होना चाहिए।

इतना सुन मैं वहां भी न रुक सका, मेरी चोरी पकड़ी जा चुकी थी।

बच्चों को भी समझाने का उनका अपना तरीका था जिसे याद कर मन सालता रहेगा ।

इस तरह की जाने कितनी खट्टी-मीठी यादों को दोहराते हम चल रहे थे । गाड़ी भाग रही थी और मैंने देखा मेरा मित्र, गोरखपुर का अनोखा साथी, वह नवयुवक चुप अपने में खोया हुआ था । उसने न जाने कितने भाषण, कितनी मीटिंगों में मुझे सुना है, लेकिन बच्चों और उनके माता-पिता से बतियाते, भाषण करते नहीं, माईक पर बतियाते, बात कहीं करते नहीं देखा, इसलिए कार में बैठने से पूर्व वह मेरे निकट आ, हाथ छू जिन आंखों से देख रहा था, उसमें न जाने कितनी अनकही किताबों के पन्ने फरफराकर गुजर गये । और चलती कार में मैंने पाया विनम्र, मेरा बड़ा बेटा, मेरे पास आ बिलकुल मुझसे चिपककर बैठ गया और बोला—पापा, आज आप बहुत अच्छा बोले ।

जब कभी भी, किसी मीटिंग या सगोष्ठी में, मेरे साथ मेरी पत्नी होती हैं तो मैं उनसे हर बार सवाल करता हूं अपने भाषण पर, उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए । उस सबसे मुझे अपने को जानने, सुधारने का साहस मिलता है । लगता है मेरा बेटा जो कि अब किशोर हो चला है, मेरी हर बार की इस आदत को बचपन से सुनता-देखता रहा है या कि कुछ और कि मेरे मीरा से प्रश्न करने से पहले ही कह बैठा था—पापा आज बहुत अच्छा बोले । फिर जिस तरह वह मेरी बाहों से चिपक आया, उसका वह स्पर्श, मुझे खींचकर अचानक अपने बचपन की तरफ ले गया ।

उस समय मैं विनम्र से काफी बड़ा रहा हूं । शायद लगभग पन्द्रह से ऊपर । और बाबूजी मेरे थे प्रधानमन्त्री । वे एक भाषण के बाद घर लौटे थे । वहां कमरे में घर के कई और लोग थे । वे सभी बाबूजी के भाषण की प्रशंसा कर रहे थे । एक कोने में, कमरे में, बैठा मैं सभी की बातें सुनता-देखता रहा । धीरे-धीरे प्रशंसकों के चले जाने के बाद वहां कमरे में बाबूजी के साथ मैं और मेरी अम्मा ही रह गयीं । मैं धीरे से उठा और बाबूजी के निकट आ बोला—आप आज बहुत अच्छा बोले···। कहते उस क्षण मेरा गला भर आया था । कुछ आगे बोल पाना कठिन था ।

बाबूजी मेरी मन:स्थिति पूरी तरह समझ रहे थे, बोले—अच्छा, आपको भी बहुत अच्छा लगा, बताइये क्या-क्या अच्छा लगा ? मैंने जेब से कागज निकाल उसमें नोट की गई बातें पढ़कर सुनाई। और बात के अन्त में अनायास ही यह जोड़ दिया—अगर आप अपनी बातों के साथ इतनी बात और जोड़ देते तो…। मैं भारत के प्रधानमन्त्री से नहीं अपने बाबूजी से बात कर रहा था, जिससे मैं अपने मन का सच बांटना चाहता था। बाबूजी ने मुसकराकर अपना सर हिला दिया। आज जब विनम्र मेरी बाहों में चिपट, मेरे भाषण की नहीं, माइक पर की गयी बातचीत की तारीफ कर रहा है, तो बातों का एक पुल बन आया है, जो मेरे बेटे से ले जाकर मुझे मेरे बाबूजी से जोड़ता है। विश्वास कीजिए, मैं किसी गरिमा या गर्व के तहत इस घटना को आपके साथ बांटकर नहीं जी रहा, क्योंकि जानते हैं अम्मा के नाखुश होने पर भी बाबूजी के वात्सल्य में डूबे हाथ मुझे अपने में भर पास खींच लाये थे और वे कह रहे थे : अगली बार जब फिर कभी इस विषय पर बोलूंगा तो तुम्हारी बात को जरूर जोड़ दूंगा। ध्यान में रखकर कहूंगा।

और मुझे विदा कर मेरे बाहर आने पर वे अम्मा से बतियाने लगे थे। अम्मा अब बताती हैं कि उन्होंने अम्मा को सावधान करते कहा था—बच्चों के उगते मन को, उनकी इच्छाओं को, विचारों को इस तरह कभी नहीं दबाना चाहिए।

विनम्र को इस तरह बाहों से चिपकाकर मैं मीरा से वह सब कहना चाहता हूं पर मीरा मूड में नहीं हैं। कल रात हमारी उनसे गरमा-गरमी हो गयी है। हमने एक जमाने पहले यह तय किया था कि मुझे सरकारी काम से 25 और 26 को नैनीताल जाना है। हम उससे एक दिन पहले जायेंगे वहां और 24 का सारा दिन मेरा परिवार का दिन होगा और मेरे लिए छुट्टी का।

सक्रिय राजनीति में मैं औरों की तो नहीं पर अपनी आपबीती होने के कारण कुछ सही बातें ऊपर आपके साथ कह, जीना चाहूंगा। क्योंकि पश्चिम की तरफ अपने देश में राजनीतिज्ञ के लिए प्राइवेट और जग-जाहिर कुछ भी अलग-अलग नहीं होता, इसलिए उस एक दिन की छुट्टी का इन्तजार महीनों से मन में संजो रहा था। जैसे-जैसे छुट्टी

का वह दिन नजदीक आता गया, मन का उत्साह बढ़ता गया।

23 की सुबह लखनऊ और घर आते ही पाया, मीरा अपने में व्यस्त-मस्त। सामान वगैरह नहीं रखा गया है अभी तक। पूछने पर पहली बात पत्नी ने कहीं—विभोर की तो छुट्टी है पर विनम्र वगैरह की नहीं, वे नहीं जा पायेंगे।

मैंने अपनी तरफ से जोड़ा—चलो, कोई बात नहीं, ये दोनों अगले दिन जब और सरकारी अफसरान मीटिंग के लिए आयेंगे, उनके साथ नैनीताल पहुंच जायेंगे। इस पर मीरा अटकी—छोड़ के जायेंगे कैसे ? किसके पास ? अब बड़े हो रहे हैं। ऐसी उम्र में लड़कों को अकेले नहीं छोड़ा जा सकता।

मैं पत्नी के आशय को नहीं समझ पाया और मुझे गुस्सा आ गया। उन्होंने मेरे विचारों की तनिक परवाह नहीं की। मैं बेलाग कह गया—तो मैं आपको छोड़कर जा रहा हूं। एक दिन अपना होगा। कहीं खुले में बैठूंगा, पढ़ूंगा—मैं जा रहा हूं।

पत्नी ने समझाने की कोशिश की। मैं उन्हें बताने में अपने को असमर्थ पा रहा था कि इस दिन का किस बेसब्री से मुझे इन्तजार था, जिस पर उन्होंने पानी फेर दिया और वे जिन्होंने मेरी जाने कितनी तनहाइयों, कठिनाइयों में साथ दिया—जिया था, कहे जा रही थीं—रसोई की पुताई हो रही है। 28 को अम्मा जी आ रही हैं। पहली को दीवाली है, कितना-कितना काम पड़ा है घर का।

वे मुझसे उम्मीद कर रही थीं कुछ और पर मैं उनकी अपेक्षा के विपरीत और अधिक खीझ उठा था। लपककर मैंने खाने की टेबल पर फोन खींचकर पटका और खाते-पीते निजी सचिव को फोन पर कहा : आज का टिकट कैंसिल सभी लोग साथ जायेंगे 24 को।

कह गुस्से में खाने की टेबिल से उठ आया और वहां से सीधे हम स्कूल के समारोह के लिए चले आये। लौटकर खाने का मूड नहीं बना। कल सारी रात रत्ती भर पत्नी से बात नहीं की मैंने।

सुबह जब नहाने गया तो मुसमें एहसास जागा—कुछ गलती मेरी भी थी, पर दीख रहा था पत्नी के नाक पर अभी भी कल का गुस्सा सीना ताने बैठा है। अब मैं क्या करूं ? कितना नीचे झुककर स्वीकार करूं कि गलती मेरी ही थी। पर समझौते का कोई रास्ता नहीं दिखता।

फिर नहाते-नहाते एक रास्ता सूझा। मैंने विभोर को सामने पा उससे कहा—बेटा, जरा मां को भेजना।

मीरा आयीं।

पूछा—क्या बात है ? आप बुला रहे थे ?

मेरा स्वाभिमानी मन साफ इनकार कर गया—नहीं, मैंने तो नहीं बुलाया।

मीरा और भी परेशान—विभोर ने बताया, आप बुला रहे हैं।

कह वे लौट जाना चाहती हैं। उनके जाते-जाते मैं हाथ बढ़ा उन्हें रोककर कहता हूं—आपके नाक पर गुस्सा है न। वही चीख-चीखकर कह रहा है—मीरा गुस्सा है, देखो मीरा गुस्सा है। फिर रुककर आगे बोला—अजी, हम चल रहे हैं नैनीताल। ऐसा कीजिए कि हम ये बचे-खुचे सरकारी दो दिन अपने काम के बीच भी शान्ति से जी सकें।

और वे कह रही थीं—आप इतना बताइये, गलती किसकी थी ? ये गुस्सा हो खाना छोड़कर उठ जाने की—आपकी या मेरी ?

आप सुनकर हंसेंगे, पति-पत्नी के बीच झगड़े का अन्त इस बात पर होता है कि 50 प्रतिशत मेरी और 50 प्रतिशत पत्नी की, सुलह हो जाती है। बाबूजी से कितनी ही बातों पर अम्मा को नाराज होते देखा है, पर पाया बाबूजी थे औंधे घड़े पर पानी। अम्मा को उलट कर न तो जवाब देते, न बेकार की बातें करते। अम्मा कहती रहतीं। बाबूजी चुप सब कुछ पी जाते। विषपायी शिव की तरह। बाहर की परेशानी घर में बांटते-जीते ही नहीं थे। मैं उन दोनों के बीच मौजूद रहता।

अच्छी तरह याद है। बाबूजी अम्मा का सामना नहीं करते और अन्त में समय पा अम्मा का गुस्सा उतरता और वे जो कुछ भी घर में होता उस सबको जोड़-बटोर बाबूजी के खाने के लिए कोई बहुत ही खास चीज बनातीं और थाली में सजाकर ले जातीं। बाबूजी अपनी मन-पसन्द खाने की चीज देख अम्मा से मुस्कराकर कहते—क्यों, आपका गुस्सा शान्त हो गया ?

बाबूजी खाना खाते और अम्मा रामायण पढ़ातीं। उन्हें सुनातीं।

कहीं मेरे मन में सुलह का वह रामयुगी दृश्य चिपककर रह गया है। मेरे मन में वह या वैसी ही लालसा जीती-जागती है कि मीरा क्यों नहीं मेरी कठिनाई समझ पातीं, पर वह सब पत्नी से कह पाना आज

के युग में संभव नहीं है न। इसलिए कि मेरे मन में अभी भी वयस्क हो जाने के बावजूद एक किशोर की छटपटाहट जीवित है, जो आकाश चन्द्र मांग करती है। कठिनाई आज के समय की यह है कि हम राकेट से चांद पर जा सकते हैं पर चांद को धरती पर ला नहीं सकते। मशीन ने हमसे वह कल्पना का सुनहरा जाल छीन लिया है जो कभी थाली में पानी भरकर चांद को धरती पर उतार लाता था। हमारा चांद हमसे छिन गया है। अब वह सब बात पुराने जमाने की दादी की कहानियों-जैसी लगती है।

मेरी दादी।

मेरे पिताजी की मां का नाम था रामदुलारी, जो मुझे सुनील नहीं, मोहन कृष्ण कहकर बुलातीं। उस समय बाबूजी प्रधानमन्त्री थे और वे मुझसे कहतीं, वह दुखियारा गरीब लड़का है, उसे काम दिला दो न। उस फलां को बाबूजी के प्रधानमंत्री फण्ड से पैसे दिलवा दो। बड़ा गरीब है बेचारा।

मैं उनका चहेता मोहन कृष्ण।

वे अपने पूजा-घर में बैठी रहतीं। मेरे घर में वह कमरा खाने का था जहां उनकी खाट पड़ी होती। बाबूजी के घर में आने से, उनके घुसते ही, उनके कदमों की आहट से दादी समझ जाती थीं कि बाबूजी आ गये हैं और वे बड़े प्यार से बहुत ही धीमी आवाज से कहतीं—नन्हें, तुम आ गये ?

और पाता, बाबूजी जाने कितनी परेशानियों से लदे आए होंगे। दादी की आवाज सुनते ही उनके कदम उस कमरे की तरफ मुड़ जाते, जहां दादी होतीं। सारी उलझनों के बावजूद वे पांच एक मिनट अपनी मां की खाट पर जा बैठते। मैं देखता दादी का अपने बेटे के मुंह पर, सिर पर, प्यार से हाथ फेरना।

उस सबको याद कर मेरा शरीर गनगना आया है। कल्पना कीजिये, भारत के प्रधानमंत्री, हजार तरह की देशी, अन्तरदेशी परेशानियों से जूझते-जूझते अपनी मां के श्रीचरणों में स्नेहिल प्यार में लोथ-पोथ। आज उस चित्र को याद कर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मेरी आंखों के परदे पर सिनेमा की रील की तरह वह सारा दृश्य

गुजरता चला जाता है जिसे शब्दों में बांट पाना मेरे लिए संभव ही नहीं। मममतामयी दादी और···

आज जब भी मैं लखनऊ से दिल्ली आता हूं, अपनी मां के पास और उनके चेहरे पर जो भाव देखता हूं तो सहसा मुझे मेरा मन खींच बाबूजी और उनकी मां के समक्ष ले जा खड़ा कर देता है। जब मेरी मां मुझे चूमती हैं, पुच्ची लेती हैं, तो वह सारा कुछ मैं दो धरातल पर जीता हूं : एक अभी तत्काल के धरातल पर जो मेरे साथ हुआ है और एक बीते कल के साथ जिसका मेरा मन साक्षी है। जिसे मैंने बाबूजी और उनकी मां के साथ जिया-भोगा है। क्योंकि मैंने अपनी दादी को बाबूजी के बिना जीते देखा है। मां के रहते उनके बेटे का इस दुनिया से उठ जाना उस दुख की कल्पना से ही कलेजा फटने लगता है।

बेटे के बिना मेरी दादी, रामदुलारी, नौ महीने तक जीवित रहीं। और पाया वे सारे समय बाबूजी की फोटो सामने रख उसे उसी स्नेह और प्यार से पुच्ची लेती-सहलाती थीं, जैसे बाबूजी के शरीर को। वह देख मेरा रोम-रोम कांप उठता। मेरे पास जाने पर वे कहतीं—मोहन कृष्ण, इस नन्हें ने जन्म से पहले नौ महीने पेट में आ बड़ी तकलीफ दी और नहीं जानती थी कि वह इस दुनिया से कूचकर मुझे नौ महीने फिर सताएगा।

दादी का प्राणान्त बाबूजी के दिवंगत होने के ठीक नौ महीने बाद हुआ। पता नहीं कैसे दादी को मालूम था कि नौ महीने बाद ही उनकी मृत्यु होगी।

दादी के मरने से कुछ दिन पूर्व मई 1966 में मुझे बैंक ऑफ इंडिया में अपरेन्टिस की नौकरी मिल गयी थी। बाबूजी के मरने के बाद हमारे घर पर तो पहाड़ टूट पड़ा था। मेरी पढ़ाई चल रही थी। बाबूजी के न रहने पर मुझे कुछ और करना चाहिए। किसी भी तरह मैं अम्मा का हाथ बंटाना चाहता था। पढ़ाई पूरी करके नौकरी ही तो करनी थी। तीन साल बाद नौकरी में जो मिलेगा वह आज से कम ही होगा। इसलिए मन ने जोर दिया नौकरी कर लो, पढ़ाई पूरी करना है तो वह नौकरी में रहकर भी की जा सकती है। बाबूजी की यह महती इच्छा थी कि मैं पढ़ाई पूरी करूं। वे होते तो बैंक की नौकरी करने की नौबत ही न आती, जो अब करने जा रहा हूं।

नौकरी दिल्ली में ही मिली।

एक दिन शायद वह शनिवार का दिन था। उस दिन मैं दोपहर को घर आया। अन्दर बरामदे की तरफ अनायास ही चला जा रहा था कि खाने के कमरे से दादी की आवाज सुनी। वे कह रही थीं—नन्हें-नन्हें, तुम आ गये ?

एक पल को मैं ठिठका। फिर मेरे पैर मुझे दादी तक खींच ले गये। वहां पहुंच मैं वैसे ही उनकी पलंग पर बैठ गया जैसे बाबूजी बैठा करते थे।

मुझे पास पा दादी बोलीं—अरे मोहन कृष्ण, तुम हो ?

और पाया, दादी उसी तरह पुच्ची ले रही हैं जैसे बाबूजी को लेती थीं। वे उसी प्यार से मुझे थपथपा रही थीं।

मैंने पूछा—दादी, आप नन्हें-नन्हें कह रही थीं अभी ?

बोलीं—जाने क्यों मुझे ऐसा लगा जैसे नन्हें फिर से लौट आया है।

कहते उन्होंने फिर से मुझे प्यार किया।

महींने के अन्त में मुझे मेरे जीवन की पहली कमाई का पैसा मिला। 18 दिन की तनख्वाह जो शायद 270 रुपये थी। उस पैसे से मैंने सबसे पहला काम किया—खादी की दो साड़ियां खरीदने का। एक दादी के लिए और एक अम्मा के लिए। साड़ियां ले जा उनके चरणों में रख दिया। साड़ी पा दादी का रोम-रोम मुझे असीस रहा था।

काश, उस नौकरी में न जाता, तो शायद उस सारे दादी के स्नेह से वंचित रह जाता। उन अनुभवों से जो एक नौकरीपेशा लोगों को जीना-भोगना पड़ता है। नौकरी-पेशे के गृहस्थों के सुख-दु:ख भी अपने अनोखे होते हैं। वह बात कभी और सुनाऊंगा। अभी तो दादी वाली बात को जरा और आगे चलने दीजिए।

चेतगंज, मिरजापुर।

यहां मेरे नाना का घर है। उस घर के साथ मेरी कितनी-कितनी तरह की यादें जुड़ी हैं जो कभी-कभी बेपनाह मुझे तंग करती रहती हैं और आज जरूरी हो उठा है कि उनसे मुक्ति पाने के लिए आपके साथ मिलकर उन यादों को बांटूं।

नाना को तो मैंने देखा नहीं, पर नानी की याद है। आप सोच ही

सकते हैं कि आज भी जब आप किसी शहर से दस कोस भी बाहर चले जायें तो आपको वहां के देहात-गांव में जो दयनीय हालत से दो-चार होना पड़ता है, उससे मन कचोटता है फिर तो वह बात तब की है जब भारत को स्वतंत्र हुए बहुत अरसा नहीं हुआ था। चेतगंज के मुहल्ले में आज भी कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं आया है और यही कारण है कि मैं अपने मन को आज की स्थितियों से एकाकार नहीं कर पाता हूं। उस सारे घपले से अलग हो जाना चाहता हूं जो साधारण आदमी को दयनीय स्थिति से उबारने के बजाय, उसे उसी स्थिति में बनाए रखने की तिकड़म में लगे अपनी स्वार्थ-सिद्धि में तल्लीन हैं। अभी हाल ही में इसी तरह मन की उधेड़बुन का सिरा खोजते-खोजते मैं अम्मा से बात करते नानी तक पहुंच गया। वे तो अब जीवित नहीं हैं पर उनकी स्मृतियों के सहारे और अम्मा द्वारा बतायी गयी बातों के सहारे एक चित्र मन में खड़ा होता है और उसमें रंग भरते मैं अम्मा से पूछता हूं—हम सब अपनी नानी को मावा क्यों कहते थे, अम्मा ?

वे बताती हैं—जाने कब उनके बड़े भाई-बहन ने बोलना आरंभ करते हुए बजाय मां या अम्मा कहने के बरबस मावा कह डाला और तब से सभी उन्हें मावा कहने लगे और कभी किसी ने यह कहने-जानने-समझने की कोशिश भी नहीं की। छोटे कस्बों-शहरों और मुहल्लों में अक्सर ऐसा होता है कि एक बात चल पड़ी, तो सभी के लिए ब्रह्म-वाक्य बन जाती है, और उस पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं खड़ा करता। जैसे एक आदमी या लड़के का मामा धीरे-धीरे सारे मुहल्ले का और बढ़ते-बढ़ते जगत-मामा बन जाता है। यही नहीं, एक मुहल्ले का दामाद सारे मुहल्ले वालों का दामाद माना जाने लगता है और पूजनीय हो उठता है।

उस समय छोटा था पर फिर भी समझ थी और बाबू ज़ी के साथ उनके प्रधानमंत्री बनने के बाद हम लोग चेतगंज आये थे। हमने इस तरह पहले उन्हें यानी बाबू जी को लोगों के साथ मिलते-बात करते और हल्के-फुल्के ही बतियाते कभी नहीं देखा था, जैसे कि अपने साले चंद्रिका प्रसाद यानी मेरे मामा के साथ पेश आये थे। क्या मजेदार चुटकियां वे अपने साले साहब की ले रहे थे। काश, मेरे पास उन दिनों

आज की तरह वे सुविधाएं याददाश्तों को रिकार्ड करने की होतीं तो हम सबको रिकार्ड करके रखते और आप सबको सुनाते। लगता ही नहीं था कि देश का प्रधानमंत्री किस तरह इतना सरल-सहज हो केवल हमारे मामा के साथ ही नहीं बल्कि मुहल्ले के सारे जाने-पहचाने लोगों से मिलता-बात करता है जैसे वह इन सारे लोगों का संपूर्ण मुहल्ले और चेतगंज का दामाद हो।

लोग ये भूल गये थे कि चेतगंज से बाबूजी का दोहरा रिश्ता है। वे उस मुहल्ले के दामाद होने के साथ-साथ वहां के नाती भी हैं और उनका भी ननिहाल मिरजापुर में ही है।

कभी अम्मा से मैंने यह जानना चाहा था कि यह जानकर भी कि बाबूजी ने अपनी जिंदगी, अपना जीवन देश को अर्पण कर रखा है, जब उनकी शादी हुई तो आप को कैसा लगा ? कैसे उस जमाने में गुलामी में होने के कारण बहुतेरे लोग अपना जीवन संकट में डालना नहीं चाहते थे और देश-प्रेमियों से कटते और बचते थे फिर भी आपने···?

और सुनेंगे, अम्मा ने क्या सुनाया था ?

बाबूजी को पाने के लिए अम्मा ने व्रत और अनुष्ठान किया। कहने लगीं—देश-प्रेम तो घुट्टी में मिला था इसलिए उस तरह का कोई डर कभी नहीं सताने आया, बल्कि जाने क्यों वह सब अच्छा लगता था। घर में कभी अभाव नहीं देखा था, सो जानती ही नहीं थी कि अभाव या गरीबी भी कोई चीज है। इतना जरूर है कि हम सब छोटे में सोचते थे। बड़ी बातों की कल्पना ही नहीं कर सकते थे।

तुम्हारी दादी की सगी चाची का हमारे ही मुहल्ले चेतगंज में नइहर था और उनका अपना नइहर गणेशगंज मुहल्ले में था। इस कारण जब तुम्हारी दादी गणेशगंज आतीं, तो चेतगंज भी आया करती थीं। उनका स्वभाव बड़ा सरल और मिलनसार था, जिससे सारा मुहल्ला उन्हें जानता और उनसे स्नेह करता था। तुम्हें तो याद होगा दादी का नाम। रामदुलारी नाम होने के कारण मुहल्ले में वे दुल्लर बहन के नाम से पुकारी जाती थीं।

एक बार की बात है। अम्मा जी के साथ शास्त्री जी आये हुए थे। उस समय जानते हो हमारी उम्र क्या थी ? केवल नौ-दस साल !

चाची जी के पड़ोस में किसी की गमी हो गयी थी। मेरी मां वहां गयी थीं, हम बहनों को बाहर निकलने के लिए मना कर गयी थीं, पर मां के जाने के बाद हम भी चोरी-चोरी वहां जा पहुंचीं और पड़ोस के मकान से वह सब देखने लगीं। एक कुतूहल था—यह जानना, मरने के बाद क्या होता है ? किसी की मिट्टी देखने का यह पहला मौका था—इसी से ऐसी उत्सुकता थी। जिसके यहां मृत्यु हुई थी वहां बाहर खड़े व्यक्तियों में शास्त्री जी भी थे। वे चुपचाप एक ओर गुमसुम-से अपने-आप में डूबे खड़े थे। हमारे मुंह से अनायास निकल गया—सब लोग तो रो रहे हैं पर दुल्लर बहन का लड़का नहीं रो रहा है।

फिर बात आई-गई हो गयी।

अरसे बाद शादी की बात जब चलने लगी, तो न जाने कैसे मन में अपने ही कहे गये शब्दों पर हंसी आ जाती। यह क्यों और कैसे हुआ, उसका मर्म आज तक समझ में नहीं आया कि दुल्लर बहन का लड़का नहीं रो रहा—यह कान में अनायास बजते हंसी क्यों आयी ? कुछ भला-भला क्यों लगा ? मेरी मां को शास्त्री जी पसंद आ गये थे, अम्मा बताती हैं। वे अपनी बहू से यानी मेरी पत्नी मीरा से बातें करती हैं, मीरा खोद-खोद कर पूछती हैं और मैं बैठा सुन रहा हूं वह सब। अम्मा कहती जा रही हैं—मेरी मां ने बड़ी बहन से शास्त्री जी की शादी की बात चलायीं। पर तुम्हारी दादी शास्त्री जी की शादी के लिए उस समय तैयार नहीं थीं, इससे मां को चुप हो जाना पड़ा, पर बहन का विवाह दूसरी जगह हो गया।

लगभग दो साल का अरसा बीता। मेरी मां ने शास्त्री जी के साथ फिर शादी की बात उठायी। सुना, अब इस तरह का आधार बन गया है, और शादी हो जायेगी। इस पर मां ने बात भैया के आगे रखी। पर भैया नें मां को आगे बात बढ़ाने से रोक दिया, क्योंकि उनकी निगाह में दो-एक और अच्छे लड़के थे। उनसे बात टूट जाने पर ही वे शास्त्री जी के बारे में सोचने वाले थे।

इसी बीच एक रात मुझे सपना आया। देखा—एक मंदिर में हम पूजा के लिए जा रही हैं। हमारे हाथ में एक माला है। जैसे ही मंदिर के अंदर जाने लगीं, पाया, अंदर से शास्त्री जी बाहर आते दिखे। वे ठिठक गये। हम भी ठिठक गई। हमने उनके गले में माला डाल दी।

जवाब में उन्होंने भी अपने हाथों के फूलों का गुच्छा हमारे हाथों में पकड़ा दिया। इसके बाद हमारी नींद टूट गयी। जाने कौन-सा पहर था। आगे नींद नहीं आयी।

अम्मा इसके बाद एक और घटना जोड़ती हैं—हम दो बहनें थीं तथा एक चचेरी बहन भी साथ रहती थी। वह हमउम्र थी, इस तरह हम तीन लड़कियां घर में थीं। मेरी मां प्रतिदिन गंगा जातीं। नहा-धो, कपड़े धोकर लौटतीं। नित्य बारी-बारी से एक-एक लड़की को साथ ले जातीं। उसे पहले नहला-धुलाकर मंदिर में बैठा देतीं, फिर खुद निबटतीं। इस तरह मेरी बारी गंगा जाने और मंदिर में बैठने की हर तीसरे दिन के बाद आती। इस नरह मंदिर दो दिनों के लिए छूट जाता—यह मुझे बुरा लगता था। एक दिन मैंने बिना सोचे-समझे, कि आगे क्या होगा, मंदिर से सालिग्राम कीं बटिया चोरी कर ली और आंचल में छिपाकर घर ले आयी। किसी को पता न चले, उन्हें मैंने तुलसी के पेड़ के नीचे थाले में छिपा दिया।

हर दिन सुबह कलेवा मिलता। वह मैं तब तक न खाती जब तक नहा-धोकर पूजा न कर लेती। चोरी का यह भेद खुल गया एक दिन। घर में हो-हल्ला मच उठा।

पंडित जी बुलाये गये। चोरी से लाये गये सालिग्राम की कहानी सुनाई गयी। पंडित जी बोले—बिटिया श्रद्धा और प्यार से सालिग्राम की बटिया घर लायी है, इसे चोरी नहीं कहा जा सकता। उसे पूजा करने दी जाये।

सो इस तरह मैं हर दिन सालिग्राम की पूजा करने लगी।

सपने के बाद एक दिन मैंने सालिग्राम से कहा, चाहे सपने में सही, मैंने शास्त्री जी के गले में माला डाल दी है तब आपके रहते हमारा विवाह कहीं और नहीं होना चाहिए।

जिम्मेदारी उन पर डाल मैं निश्चिंत हो गयी। लेकिन भैया थे अपनी जिद पर अड़े। हम और तो कुछ नहीं कर सकते थे, समझ में नहीं आता था कि क्या करें कि भैया के विचारों में परिवर्तन आये। वे लगातार दूसरे लड़कों को ढूंढने में लगे रहे। तब हमें दुःख के संग-संग गुस्सा भी आने लगा। एक दिन जैसे ही भैया किसी लड़के को देखने के लिए प्रस्थान किए, मैंने झट से बिना आगा-पीछा सोचे

सालिग्राम को पानी में डुबो दिया और कहा, आपने हमें डुबोने का फैसला कर लिया है तब हम भी तुम्हें डुबाये रहेंगी।

देखा कि भैया वापस आ गये हैं और मेरी मां से कह रहे हैं कि बात टूट गयी है। इतना सुन हम चुपचाप पूजा वाले कमरे में पहुंच, कपड़े बदल, पीतांबर पहन, सालिग्राम जी को बाहर निकालतीं और बार-बार प्रणाम करतीं उन्हें धन्यवाद देतीं।

इस तरह भैया ने कई लड़के देखे और कई जगह बातें कीं, पर किसी-न-किसी कारण वह सब एक-एक करके खत्म हो गयीं। जानती हो—वे मीरा को संबोधित कर कहती हैं—इस तरह दस-बारह महीने और बीत गये। एक दिन भैया ने मां को बताया कि किसी नातेदार की बिचवई से बनारस में एक लड़के से बातचीत तय हो गयी है। लड़के वाले सुखी-संपन्न हैं। शहर में अपना निजी मकान है और कुछ कारो-बार भी होता है। लेन-देन की बात भी तय हो गयी है। दो-एक दिन में वे लड़का देखने बनारस जा रहे हैं, उसी समय बरिच्छा भी दे आयेंगे।

बरिच्छा का इंतजाम शुरू हो गया। मां प्रसन्न हुईं। लेकिन हमारी फिर मुसीबत। फिर सालिग्राम को पानी में डुबोओ। फिर उन्हें अपना फैसला सुनाओ। लगा, इस बार सालिग्राम जी को ऊब उठना चाहिए। नाव इस पार या उस पार हो ही जायेगी। सालिग्राम महाराज शायद मेरे ऐसे कठोर फैसले से डर उठे। भैया बनारस गये और बरिच्छा ले वापस आ गये। इस बार उन्हें लड़का ही पसंद नहीं आया। हमारी खुशी आकाश छूने लगी। हम दौड़ी-दौड़ी पूजा घर में गयीं और सालिग्राम जी को पानी से निकाल बार-बार प्रणाम किया।

इसके बाद तुम्हारी दादी से बातचीत फिर शुरू हुई। एक दिन भैया रामनगर गये और शास्त्री की बात पक्की कर आये। लेन-देन के नाम पर अम्मा जी ने यानी सुनील की दादी ने केवल एक रुपया और कपड़े का एक थान कहा। अम्मा ने मीरा को संबोधित करते कहा—नौ मई, 1928 को तिलक चढ़ा। रामनगर शास्त्री जी को तार देकर बुलाया गया। बनारस आने पर ही उन्हें विवाह की जानकारी हुई। उन्होंने आते ही अम्माजी से कहा—शादी तय करने से पहले कम-से-कम

मुझसे तो पूछ लेना चाहिए था न, अम्मा ! खैर, जहां तुमने तय कर दिया, मैं वहीं करूंगा । लेकिन अभी नहीं, पच्चीस साल का होने के बाद ।

शास्त्री जी मां की बात को काटते नहीं थे । तिलक के बाद विवाह की तारीख 16 मई ठीक हुई और शास्त्री जी को मजबूर हो जाना पड़ा । इस तरह हमारी शादी हुई ।

पश्चिम में प्रधानमंत्री की पत्नी जिन्हें 'फस्ट लेडी आफ द नेशन' की उपाधि दी जाती है और उनके बारे में लोग कितना जानने-सुनने को उत्सुक होते हैं लेकिन भारत में हम कितनी जल्दी सब कुछ भूल जाते हैं। इसलिए यह आप से नहीं कह रहा कि मेरी मां हैं, बल्कि इसलिए कि वे भारत की आत्मा का सही प्रतीक हैं । वह आस्था, वह विश्वास, जो कि हम भारतीयों को यहां तक ले आया है उसकी नींव कितनी गहरी है, इसका चित्र, आपको क्या मर्माहत नहीं करता ?

अम्मा कहती हैं—जब तू पैदा हुआ तो तेरे बाबूजी लखनऊ में पुलिसमंत्री थे—यानी गृहमंत्री । मैं तुझे लेकर तेरे ननिहाल आयी । मेरी मां तुझे पा कितनी खुश थीं । उन्हें बहुत कम दिखता था फिर भी वे किसी-न-किसी तरह अपनी आंखें खूब सिकोड़, खूब चुंधी कर, देखने की चेष्टा करतीं । कहतीं—हाय, मेरा लाल कितना गोरा है ! कैसा तगड़ा ! इसके आते ही बाप पुलिस मंत्री हो गया । देखना एक दिन यह भी तरक्की करेगा । और बाप तो तरक्की करता ही जायेगा ।

नानी मावा की कही गयी बात झूठ नहीं निकली । यह बात उस दिन मामा ने भी कही थी, जब मैं उत्तर प्रदेश में उपमंत्री बना और एक दिन चेतगंज पहुंचा । तब मेरी नानी का स्वर्गवास हो चुका था और मेरे मामा ने मेरे सिर पर अपना हाथ रख आशीर्वाद दिया था । उस दिन मिरजापुर में 101 फाटक बनाये गये थे और मैंने प्रण लिया था कि मैं इन फाटकों के मूल्य को कभी गिरने नहीं दूंगा ।

यह सारी बात यूं ही अपना बड़प्पन जताने और शोहरत हासिल करने के विचार से नहीं लिख रहा हूं, बल्कि यह मेरे मन की यात्रा है, सच मानिए, इसके जरिये आपके साथ मैं उस स्रोत तक जा पहुंचना चाहता हूं जहां प्रकृति ने मेरे लिए सेवा के बीज रोपे हैं ।

फिर एक दिन हमने बाबूजी के स्वतंत्रता आंदोलन के बारे में जानना चाहा और अम्मा से सुना—उन दिनों हम इलाहाबाद में लीडर रोड वाले मकान में रह रहे थे कि एक दिन बड़ी विचित्र समस्या हमारे सामने आ खड़ी हुई। पूना के पास शोलापुर में कांग्रेस से संबंधित कोई कांड हो गया था। क्या हो गया था वह याद नहीं, पर इतना याद है उस कांड के कारण वहां मार्शल लॉ लगा हुआ था, लेकिन फिर भी सारी मनाही के बाद, देश के कोने-कोने से कांग्रेस के वालेंटियर वहां जा रहे थे और गोलियों के शिकार हो रहे थे। तुम्हारे बाबू जी ने भी वहां जाने के लिए अपना नाम भेज दिया था। जब टंडन जी, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, को यह बात पता चली, तब उन्होंने तुम्हारे बाबू जी को तरह-तरह से समझाया और वहां न जाने की सलाह दी, पर वे अपनी बात पर अडिग रहे। टंडन जी को बड़ी परेशानी हुई। कोई उपाय न देख उन्होंने हमारे पास कहला भेजा कि हम अम्मा जी से कह उन्हें न जाने के लिए मजबूर करें।

हमारी आधी जान वहां जाने की खबर सुनते ही सूख गयी थी। जी को जैसे-तैसे ढाढ़स बांध अम्मा जी से बात कही और उन्हें रोकने के लिए कहा। हमारी बात सुन अम्मा जी, तुम्हारी दादी थोड़ी देर तो चुप रहीं। फिर धीरे से बोलीं—"न, हम बचवा को वहां जाने से मना नहीं कर सकते। उन्होंने जब पैर आगे बढ़ाया है तब पीछे हटाना ठीक नहीं। आगे जैसी भगवान की इच्छा हो! तुम चाहो तो कहो।"

इस पर मैं तो एकदम भौंचक हो पहले तो अम्मा का मुंह देखती रह गयी फिर याद आया वह दिन जब शादी के बाद अम्मा हमें ले पियरी चढ़ाने के लिए गंगाजी गयी थीं और सुनाया था कि यह पियरी चढ़ाने की बात उन्होंने कब सोची थी। और फिर उन्होंने वह घटना सुनायी—

2 अक्तूबर सन् 1904 को तुम्हारे बाबूजी का जन्म हुआ था। 14 जनवरी को संक्रांति पड़ी। सवा तीन महीने के बेटे को ले तुम्हारी दादी हमारे श्वसुर के साथ संगम नहाने आयीं। माघ के मेले के कारण भीड़ तो होती ही है, संक्रांति के पर्व की वजह से भीड़ और हो गयी। किले के पास किनारे पर नाव तय करने और उस पर बैठने में बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ा। धक्का-मुक्की ऐसी कि अपने आपको संभालना

कठिन। चिकनी मिट्टी की जमीन और उस पर फिसलन और रपटन। इसी धक्का-मुक्की में दादी जी के कन्धे से चिपके तुम्हारे बाबूजी अचानक गिर पड़े। घबराई हुई अम्मा जी इधर-उधर देखने लगीं। वह जमाना ही और था, बढ़े-बूढ़ों के आगे मुंह खोलना दुश्वार। जब तक ससुर जी बात समझें-समझें कि भीड़ का रेला आया और सब कुछ तितर-बितर हो गया। जल्दी ही बचवा की खोजाई होने लगी, लेकिन सबसे बड़ी अचरज की बात यह थी कि चारों तरफ खोज होने के बाद भी बचवा का कहीं पता नहीं चला। तुम्हारे दादी यानी अम्मा जी बिलखती किनारे बैठ गयीं। बिना बचवा को पाये वे वहां से उठने को तैयार नहीं थीं। सभी लोग बचवा को खोजने-ढूंढ निकालने में लगे रहे। वहां बैठे-बैठे अम्मा ने यह मनौती मानी थी कि अगर उनके बचवा उनको मिल गये तो बचवा के ब्याह होने पर दुल्हन के साथ वे पियरी चढ़ाने गंगा मैया को आयेंगी।

जानते हो, उन्हें तुम्हारे बाबू मिले तो कैसे ? अम्मा ने आगे बताया—उधर किनारे पर जो नावें खड़ी थीं, उनमें से एक में, तुम्हारे बाबूजी जा गिरे थे। हुआ यह कि एक नाव, जिसमें सवारियां पूरी भर चुकी थीं, संगम की तरफ जा रही थी। नाव के इस सिरे पर, जो घाट की तरफ था, एक दूधवाला अपनी टोकरी लिये बैठा था और उसी टोकरी में शास्त्री जी जा गिरे थे। दूधवाला और नाव की सवारियां गिरे हुए बच्चे को देख भौंचक रह गये। बच्चा किसका है और किधर से आ गिरा, भीड़-भाड़ में यह जान पाना कठिन हो गया था। दूधवाले के कोई संतान नहीं थी, इसलिए वह बहुत प्रसन्न था। नाव में बैठे दूधवाले से परिचित व्यक्तियों ने दूधवाले को बधाई दी कि गंगा मैया की कृपा से उसे एक लड़का मिल गया। दूधवाले ने अपनी मिरजई उतार बच्चे को ढांक लिया और कपड़े के फाहे से बच्चे को दूध पिलाने लगा। नाव संगम की तरफ बढ़ी जा रही थी।

इधर गंगा के किनारे खड़े लोग बचवा को खोजने में लगे थे। करीब एक घंटे बाद वापस लौट जब नाव संगम से आ किनारे पर लगी तब संयोग से ससुर जी को शास्त्री जी उस टोकरी में पड़े दिखाई पड़ गये। पूछताछ होने लगी। लोगों की भीड़ जमा हो गयी। दूधवाला किसी हालत में बच्चा लौटाने के लिए तैयार नहीं था। सच्चाई सिद्ध

करने के लिए अम्मा जी को बुलाया गया। अम्मा जी ने देखते ही झट से बचवा को गोद में भर चिपटा लिया, दूधवाले को डांटा-फटकारा! वह अपनी ही राम-कहानी दोहराये जा रहा था। अन्त में हारकर कुछ पैसे ले उसने ससुर जी की जान छोड़ी। अम्मा बचवा को लेकर घर आयीं। ऐसी थीं तुम्हारी दादी। बाबूजी से एक कदम आगे। उनके आगे कुछ और कहने से कोई लाभ नहीं था। तुम्हारे बाबूजी आये। कि वे शोलापुर न जायें, खानावाना हुआ। रात में यह देख कि उनका शोलापुर जाना एकदम निश्चित है, मैंने कहा—"तो हमें भी साथ लेते चलिए!"

उन्होंने प्रश्न किया—"क्यों, तुम वहां चलकर क्या करोगी? यहां अम्मा को भी कोई देखने वाला चाहिए न!"

हम बोले—"नहीं, हम यहां अकेली नहीं रहेंगी। आप जहां जायेंगे वहीं हम भी जायेंगी।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता।" कहते वे चुप हो गये।

उनकी बात सुनकर हम रोने लगीं। फिर कुछ देर बाद बड़ी रूखी आवाज में बोले—"तुमने अगर गाली दे दी होती तब भी मुझे इतना दुख न होता, जितना तुम्हारी इन बातों से हो रहा है। मुझे तो आये दिन इस तहर के कामों में भाग लेते रहना है। तुम्हें कहां-कहां लेकर चलता फिरूंगा। अच्छा, एक शर्त पर इस बार मैं शोलापुर नहीं जाऊंगा और वह शर्त यह है कि फिर कभी भी तुम मेरे इन कामों पर अडंगा नहीं डालोगी। इसका वादा करो और अपनी गलती के लिए कान पकड़ो।"

उनका इतना कहना था कि हमने झट दोनों कान पकड़ लिये। उस दिन से उनके अंतिम दिन तक हम सदा भगवान् की कृपा से अपने वादे पर दृढ़ बनी रहीं। लेकिन उनके साथ ताशकंद न जाने का मलाल मुझे आजीवन रहेगा। यह सुनता मैं अम्मा जी की आंखों को देखता रह गया था! उस नील झील गहराई में कितना संताप, कितना दुख भरा था जिसे भारत की इन 'पहली महिला' ने शास्त्री जी को क्या-से-क्या बना दिया। यूं ही थोड़े अमेरिका वाले अपने प्रेसीडेंट की पत्नी का इतना दुलार-सम्मान करते हैं। वे जानते-मानते हैं कि ये जो उनका प्रेसीडेंट है उसके निर्माण में इन महिला का, उसकी पत्नी का कितना

बड़ा हाथ है।

मेरे जीवन की इस छोटी-सी अवधि में जाने कितना कुछ ऐसा घटा है जिसका वर्णन-बखान करता जाऊं तो एक संपूर्ण महाभारत का विस्तार बन जाएगा। लेकिन उस सबके लिए हम-आप किसी के पास समय कहां है, फिर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें बताये बिना रहा भी तो नहीं जा सकता। आज ही के समाचार पत्र में एक समाचार मुख्य पृष्ठ पर छपा है। समाचार न छपता तो आपसे कहता भी नहीं। तीन दिसम्बर 1987। कांग्रेस की इलाहाबाद सीट खाली है। उसके चुनाव के लिए कांग्रेस किसी जाने-माने वयोवृद्ध की तलाश कर रही है। मेरी अम्मा ललिता देवी शास्त्री से कैसे किस तरह उस जगह से चुनाव लड़ने की बात कही गयी, वह तो बहुत ही व्यक्तिगत मामला है फिर भी भारत की प्रथम महिला, स्वर्गीय प्रधानमंत्री की पत्नी होने के नाते वे पुनः राजनीति में नहीं आना चाहतीं। उनका निर्देशन कौन करेगा जब पति थे तब की बात और थी।

और अम्मा कहती हैं—उस दिन तुम्हारे बाबूजी मेजा गये, पर जाते समय यह बताकर नहीं गये कि वे नमक कानून तोड़ने जा रहे हैं। हमारे पूछने पर कि वे शाम को कब तक लौटेंगे, उन्होंने सिर्फ "जल्दी" कह दिया था।

हां, कुछ दिन पहले अम्मा के आगे जिक्र चला था। गांधी जी ने नमक कानून तोड़ने का सत्याग्रह चलाया। धीरे-धीरे वह जोर पकड़ता गया। लोग पकड़-पकड़कर जेल में ठूंसे जाने लगे। उसका जिक्र करते रात को खाना खाते सबको सुनाते तुम्हारे बाबूजी बोले—"मुझे भी शायद अब दो-चार दिनों में जेल जाना पड़े, लेकिन मेरे जेल जाने पर जो कोई रोयेगा, तो मैं समझूंगा उससे मुझसे मुहब्बत कम है। सच्ची मुहब्बत उसी की होगी जो बिलकुल नहीं रोयेगा।"

जिस दिन वे मेजा गये उस दिन अम्मा जी भी घर पर नहीं थीं। वे मेरी दोनों ननदों को साथ ले विंध्याचल चली गयी थीं। उन्होंने देवी-दर्शन की मनौती मानी थी। मेरी तबियत खराब थी। इस कारण हमने सांझ होते ही खाना बना लिया और इंतजार करती रहीं कि वे आयेंगे तो गरम-गरम रोटियां बना लेंगी।

शाम उतरने लगी, शास्त्री जी नहीं आये। पहले तो हम कमरे में

जाकर लेट गयीं, पर मन को शांति कहां ! शास्त्री जी को देर क्यों हो गयी ? कहां रुक गये ? मेजा में कहीं नमक तो नहीं बनाने लगे ? अपना ही पापी मन अपने को सताने लगा। हौलदिल बढ़ गया। हम उठकर छत पर आ गयीं और एकटक सड़क की तरफ निहारते शास्त्री जी के आने की प्रतीक्षा करने लगीं। उस तरह खड़े अभी कुछ समय ही बीता था कि सड़क पर एक लारी आती दिखाई पड़ी। मैं उन दिनों लीडर रोड वाले मकान में रह रही थी। लारी से 'इंकलाब जिंदाबाद' और 'गांधीजी की जै' के नारे उठ रहे थे। हम मुंडेर से झुककर ध्यान से देखने लगीं। लारी के अन्दर बहुत से सत्याग्रही बैठे थे। बिलकुल किनारे पर शास्त्री जी बैठे हुए थे। उन्होंने हमें देख हाथ हिलाया। हम उन्हें एकटक निहारती रह गयीं। लारी निकल गयी। मेरा कलेजा चिर गया। आंखें डबडबा आयीं, लेकिन तुरत उनकी बात याद आने पर कि 'रोने वालों को मोहब्बत कम होगी' हमने झट आंखें पोंछ लीं।

हम मुंडेर से नीचे उतर आयीं और तरह-तरह की बात मन में आने लगी। शास्त्री जी को जेल जाते देखने का यह पहला मौका था। झुटपुटा ऐसा था कि मन अपने ऊपर ही शंका करने लगा। संदेह होता कि वह शास्त्री जी थे या कोई और, इसी के साथ यह बात भी मन में आयी कि अगर कोई और होता तो इस तरह हाथ क्यों हिलाता। वे शास्त्री जी ही थे। फिर लगता, नहीं, वे नहीं थे। इसी तरह ऊहापोह में रात बीतने लगी।

नौ बजे के बाद अम्मा जी आयीं। हमने तुम्हारे बाबूजी की गिरफ्तारी का हाल बताया। अम्मा को भी विश्वास नहीं हुआ। बोलीं—तुमने बचवा को ठीक से पहचाना था ?

"हां, वे टोपी लगाये लारी के किनारे की तरफ बैठे थे और इधर मकान की ओर देख रहे थे।" हमने शास्त्री जी के हाथ हिलाने की बात छिपा ली थी। वह कुछ वैसी बात थी।

"टोपी तो और लोग भी लगाते हैं। बचवा नहीं कोई और होगा।"

एक तो तबियत खराब, ऊपर से हौल-दिल और अम्मा द्वारा खाने के लिए जिद। कहीं भला ग्रास मुंह में गले से नीचे उतरता और रुलाई आने-आने को होती कि उनकी बात 'रोने वाले को मुहब्बत

कम होगी' कि रुलाई का भी दम घुट जाता।

लगभग ग्यारह बजे बाहर के दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी। वह दस्तक शास्त्री जी की नहीं थी। जो सज्जन आये, उन्हें शास्त्री जी ने भेजा था। वे कोतवाली में बंद थे। वे सचमुच जेल जा चुके थे।

अम्मा की यह बात सुन याद आया, कैसे मैंने लपककर अपनी अम्मा जी के पैर छू लिये और उनका हाथ चूमने लगा। मैं अम्मा जी की आंखों से बाबूजी को देख रहा था। कितना कुछ हमारे देश की महिलाओं को भोगना पड़ा है। कितना सारा दुख उठाने के बावजूद रोकर, जी हलका करने का भी अधिकार उन्हें नहीं मिला। वह जमाना ही कुछ और था ! वह धुन ही कुछ और थी जब आदमी अपने को कष्ट देकर एक तरह का आत्म-संतोष पाता था।

कैसे बताऊं आपको कि समय-समय पर जब-तब अम्मा ने अपने कठिन दिनों की कितनी ही बातें बतायी हैं। एक बार जब मैं स्कूल जाने लगा था और पढ़ाई से कतराया तो बातों-बातों में उन्होंने सुनाया। हमारी शिक्षा नहीं के बराबर थी। स्कूल में शिक्षा मिल नहीं सकी थी और बाद में जो कुछ घर पर पढ़ पायी थी, वह रामायण बांचने तक का स्तर था। वह भी बांचना बहुत शुद्ध नहीं, केवल काम चलाऊ। पढ़ने की इच्छा तो थी पर पढ़ाई शुरू करते ही घर में गमी हो गयी और हमारी पढ़ाई छुड़ा दी गयी। कहा गया लड़कियों का पढ़ाना फलता नहीं। इलाहाबाद में ईदगाह रोड वाले मकान में आने पर हमें अपनी इस इच्छा की पूर्ति का अवसर मिला। हमारे मकान के सामने जो बंगाली परिवार रहता था, उनकी एक सयानी लड़की पढ़ने जाया करती थी। वह हिन्दी की छात्रा थी, इस कारण उसे हिन्दी अच्छी आती थी। एक दिन हमारे मन में हुआ कि क्यों न उससे हिन्दी ही पढ़ ली जाये। वह हमारी सुविधा के अनुसार आ भी सकती थी। रही बात उसे फीस के रूप में कुछ देने की, उसके लिए हम सोच भी चुकी थीं।

हमने अम्मा जी से कहा कि जो चार रुपये बर्तन साफ करने वाली को दिये जाते हैं, उसे न देकर वही रुपये हम फीस के रूप में इस्तेमाल कर सकती हैं। और रही घर के बरतनों की बात, उसके लिए मैं खुद

मेहनत कर लूंगी।

यह सब सोच एक दिन हमने शास्त्री जी से पूछा। शास्त्री जी खुश हुए पर हमारी दिन भर की मेहनत को देखकर हमें एक और नयी मुसीबत में नहीं उलझा देना चाहते थे। इससे हमारी तंदुरुस्ती पर असर पड़ सकता था। लेकिन हम पढ़ने लगीं। घर के कामकाज से थोड़ा समय मिलता तो किताब लेकर बैठ जातीं और जो काम वह दे जाती, उसे पूरा करतीं।

बाद में तो महिला कॉलेज में पढ़ने का अवसर मिला और नर्सरी का भी काम सीखा। पर उस समय शास्त्री जी लगातार टोकते रहते—"अच्छी पढ़ाई करने लगी हो। तुम्हारे लिए तो यह शारीरिक कष्ट है पर मेरे लिए मानसिक कष्ट बन गया है। भई, कुछ स्वास्थ्य का भी ध्यान रखो।"

सो तो ठीक है, हम बोलीं—पर पढ़ना भी जरूरी है। कम-से-कम ठीक से बोलना-लिखना तो आ जायेगा, वरना उसमें भी आपकी ही हंसी है।

इस पर तुम्हारे बाबूजी को चुप रह जाना पड़ा। लेकिन चुप रहने वाले तुम्हारे बाबूजी कभी-कभी बड़ी ही मार्के की, गम्भीर बात कह दिया करते जिन्हें जीवन भर मैं कभी भूल नहीं सकती।

फैजाबाद जेल से आने पर लगभग एक साल तक शास्त्री जी बाहर रहे थे। एक दिन शाम की बात है। खाना-वाना बन चुका था। हम अम्मा जी के संग ऊपर बैठी बातें कर रही थीं कि सहसा बाहर का दरवाजा खटखटाया गया। शास्त्री जी का खटखटाना हम पहचानती थीं। हम जल्दी से उतरकर नीचे गयीं। दरवाजा खोला। एक अजनबी आदमी को दरवाजे पर खड़ा देख उल्टे पांव ऊपर भागीं। वह भी हमारे पीछे-पीछे अपने हाथ वाली लाठी से सीढ़ियों को टेकते हुए चढ़ने लगे। हमें घबराया और भयभीत देख अम्मा जी कारण पूछने लगीं तब तक वे ऊपर आ गये।

तुम्हारे बाबूजी स्काउट ड्रेस में टोपी लगाये ऊपर आये थे। इस तरह के कपड़ों में मैंने उनकी कल्पना भी कभी नहीं की थी। वे पहचान में ही नहीं आ रहे थे। उन्हें इस तरह देख अम्मा ने भी डांटा—"यह क्या आदत है? अकारण ही दुल्हन को डरा दिया?"

"नहीं, अम्मा ! मैं देख रहा था कि तुमने किसी वीर ललना से मेरी शादी की है।"

हम धीरे-से बोलीं—"हम तैयार कब थीं वरना ऐसे डराना कोई खेल नहीं है। मालूम हो तो उसका डटकर सामना कर सकती हैं।"

तुम्हारे बाबूजी जब बात करते-करते घूम जाते तो निश्चित ही कोई गम्भीर बात कहा करते थे। वे उसी तरह घूमकर बोले—"मुसीबत कहकर नहीं आया करती है, एकबारगी आती है। इंसान को उसका सामना करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए तभी वह उस पर विजय पा सकता है।"

हमने अपनी अम्मा को टूटते कितनी-कितनी बार देखा है। अभी कुछ दिन पहले मेरा सबसे छोटा भाई अनायास ही छोटी-सी बीमारी में चल बसा। बाबूजी के बाद एक बहुत बड़ा हादसा अम्मा जी की इस बुढ़ाई में आ घटा है। उसे झेल पाना, यह अम्मा जी का जिगरा है। हम सब कितने दुखी रहे हैं पिछले दिनों। उसका वर्णन करते कलेजा फटने-फटने को हो आता है।

इस पर मुझे याद आता है बाबूजी के प्रधानमंत्री होने के बाद कितने तरह से पत्रकार और लेखक अम्मा जी से भी मिलने आते और तरह-तरह के सवाल पूछते। उस समय वयस्क न होने के कारण मैं उनमें से कितनी ही बातों को न समझ पाने के कारण भूल चुका हूं पर एक बात आज भी याद है। एक सज्जन ने अम्मा से पूछा था—"प्रधानमंत्री की पत्नी होने के कारण अब आप अपने में कैसा अनुभव करती हैं?"

और अम्मा जी ने सपाट उत्तर दिया था—"वैसे तो कुछ भी अनुभव नहीं करतीं, पर जब आप लोग आते हैं और इस तरह के सवाल पूछते हैं तब मालूम पड़ता है कि जरूर हमारे अंदर कोई खास चीज आ गयी है क्योंकि पहले तो आप लोग हमारे पास नहीं आते थे।"

इस पर सारे प्रेस वाले कैसे हंसे थे। उस हंसी और प्रधानमंत्री के पुत्र होने की बात पर मुझे भी अपनी एक भूल की याद हो आयी है।

बताया है न कि मैंने बाबूजी के रहते अभाव नहीं देखा। उनके न रहने के बाद जो कुछ मुझ पर बीता, वह एक-दूसरे तरह का अभाव

था कि मुझे बैंक की नौकरी करनी पड़ी। लेकिन उससे पूर्व बाबूजी के रहते मैं तो तब जन्मा था जब वे उत्तर प्रदेश में पुलिसमंत्री थे। उस समय गृहमंत्री को पुलिस मंत्री कहा जाता था। इसलिए मैं हमेशा कल्पना किया करता था कि हमारे पास ये छोटी गाड़ी नहीं, बड़ी आलीशान गाड़ी होनी चाहिए। और बाबूजी प्रधानमंत्री हुए तो वहां जो गाड़ी थी वह थी इंपाला शेवरलेट। उसे देख-देख बड़ा जी करता कि मौका मिले और उसे चलायें। प्रधानमंत्री का लड़का था। कोई मामूली बात नहीं थी! सोचते-विचारते—कल्पना की उड़ान भरते एक दिन मौका मिल गया। धीरे-धीरे हिम्मत भी खुल गयी थी आर्डर देने की। हमने बाबूजी के पर्सनल सेक्रेट्री से कहा—सहाय साहब, जरा ड्राइवर से कहिए इंपाला लेकर रेजिडेंस की तरफ आ जाये।

दो मिनट में गाड़ी आकर दरवाजे पर लग गयी। हम और अनिल भैया कहीं खाने पर जाने वाले थे। अनिल भैया ने कहा—मैं तो इसे चलाऊं या नहीं। तुम्हीं चलाओ।"

मैं आगे बढ़ा। ड्राइवर से चाभी मांगी। बोला—तुम बैठो, आराम करो, हम लोग वापस आते हैं अभी।

वह बेचारा क्या कहता।

गाड़ी ले चल पड़ा। क्या शान की सवारी थी। याद कर बदन में झुरझुरी आने लगती है। जिसके यहां खाना था, वहां पहुंचा। बातचीत में समय का ध्यान नहीं रहा। देर हो गयी।

याद आया बाबूजी आ गये होंगे।

वापस घर आ फाटक से पहले ही गाड़ी रोक दी। उतरकर गेट तक आया। संतरी को हिदायत दी। यह सलूट-वलूट नहीं। बस धीरे से गेट खोल दो। वह आवाज करे तो उसे बन्द मत करो खुला छोड़ दो।

बाबूजी का डर। वह खट-पट सैलूट मारेगा तो बेतरह की आवाज होगी और फिर गेट की आवाज से बाबूजी को हम लोगों के लौटने का अंदाज हो जायेगा। वे बेकार में पूछताछ करेंगे। अभी बात ताजी है। सुबह तक बात में पानी पड़ चुका होगा। संतरी से जैसा कहा गया, किया। दबे पैर पीछे किचन के दरवाजे से अंदर घुसा। जाते ही अम्मा मिलीं।

पूछा—बाबूजी आ गये ? कुछ पूछा तो नहीं ?

बोलीं—हां, आ गये। पूछा था। मैंने कह दिया।

आगे कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी यह जानने-सुनने की कि बाबूजी ने क्या कहा। फिर हिदायत दी—सुबह किसी को कमरे में मत भेजिएगा। रात देर हो गयी है। सुबह देर तक सोना होगा।

सुबह साढ़े पांच-पौने छह बजे किसी ने दरवाजा खटखटाया। नींद टूटी। मैंने बड़ी तेजी की आवाज में कहा—देर रात को आया हूं, सोना चाहता हूं, सोने दो।

यह सोचकर कि कोई नौकर होगा। चाय लेकर आया होगा जगाने।

लेकिन दरवाजे पर दस्तक फिर पड़ी। झुंझलाता जोर से बिगड़ने के मूड में दरवाजे की तरफ बढ़ा बड़बड़ाता। दरवाजा खोला। पाया, बाबूजी खड़े हैं। हमें कुछ न सूझा। माफी मांगी। बेध्यानी में बात कह गया हूं। वे बोले—कोई बात नहीं, आओ-आओ। हम लोग साथ-साथ चाय पीते हैं।

हमने कहा—ठीक है !

बस जल्दी-जल्दी हाथ-मुंह धो. चाय के लिए टेबुल पर जा पहुंचा। लगा, उन्हें सारी रामकहानी मालूम है। पर उन्होंने कोई तर्क तर्क नहीं किया। न कुछ जाहिर होने दिया।

कुछ देर बाद चाय पीते-पीते बोले—अम्मा ने कहा, तुम लोग आ गये हो, पर तुम कहते हो रात बड़ी देर को आये। कहां चले गये थे ?

जवाब दिया—हां, बाबूजी ! एक जगह खाने पर चले गये थे।

उन्होंने आगे प्रश्न किया—लेकिन खाने पर गये तो कैसे ? जब मैं आया तो फिएट गाड़ी गेट पर खड़ी थी। गये कैसे ?

कहना पड़ा—हम इम्पाला शेवरलेट लेकर गये थे।

बोले—ओह हो, तो आप लोगों को बड़ी गाड़ी चलाने का शौक है।

बाबूजी खुद इम्पाला का प्रयोग न के बराबर करते थे और वह किसी स्टेट गेस्ट के आने पर ही निकलती थी। उनकी बात सुन मैंने अनिल भैया की तरफ देख आंख से इशारा किया। मैं समझ गया था कि यह इशारा इजाजत का है। अब हम उसका आये-दिन प्रयोग कर

सकेंगे ।

चाय खत्म कर उन्होंने कहा—सुनील, जरा ड्राइवर को बुला दीजिए।

मैं ड्राइवर को बुला लाया। उससे उन्होंने पूछा—तुम लाग बुक रखते हो न ?

उसने 'हां' में उत्तर दिया। उन्होंने आगे कहा—इंट्री करते हो ? कल कितनी गाड़ी इन लोगों ने चलाया ?

वह बोला—चौदह किलो मीटर।

उन्होंने हिदायत दी—उसमें लिख दो, चौदह किलोमीटर प्राइवेट यूज।

तब भी उनकी बात हमारी समझ में नहीं आयी। फिर उन्होंने अम्मा को बुलाने के लिए कहा। अम्मा जी के आने पर बोले—सहाय साहब से कहना सात पैसे प्रति किलोमीटर के हिसाब से पैसे जमा करवा दें।

इतना जो उनका कहना था कि हम और अनिल भैया वहां रुक नहीं सके। जो रुलाई छूटी तो वह कमरे में भागकर पहुंचने के बाद काफी देर तक बन्द नहीं हुई। दोनों ही जने देर तक फूट-फूट कर रोते रहे।

आप से यह बात शान के तहद नहीं कह रहा, पर इसलिए कि ये बातें अब हमारे लिए आदत बन गयी हैं। सक्रिय राजनीति में आने पर सरकारी पद पाने के बाद क्या उसका दुरुपयोग करने की हिम्मत मुझमें हो सकती है ? आप ही सोचें, मेरे बच्चे कहते हैं कि पापा, आप हमें साइकल से भेजते हैं। पानी बरसने पर रिक्से से स्कूल भेजते हैं पर कितने ही दूसरे लोगों के लड़के सरकारी गाड़ी से आते हैं। उन्हें, वे छोटे हैं, कलेजा चीर कर नहीं बता सकता। समझाने की कोशिश करता हूं, जानता हूं, मेरा यह समझाना कितना कठिन है फिर भी समय होने पर कभी-कभी अपनी गाड़ी से छोड़ देता हूं। अपना सरकारी ओहदा छोड़कर आया हूं और आपके साथ यह सब फिर-फिर जी कर तनिक ताजा और नया महसूस करना चाहता हूं। कोशिश करता हूं, नींव को पुनः संजोना-संवारना कि मेरे मन का महल आज के इस तूफानी झंझावात में खड़ा रह सके।

याद आते हैं बचपन के वे हसीन दिन, वे पल जो मैंने बाबूजी के साथ बिताये। वे अपना निजी व्यक्तिगत काम मुझे सौंप देते थे और

मैं कैसा गर्व अनुभव करता था। एक होड़ थी जो हम भाइयों में लगी रहती थी। किसे कितना काम दिया जाता है और कौन उसे कितनी सफाई से करता है।

एक दिन बोले—सुनील, मेरी आलमारी काफी बेतरतीब हो रही है। तुम उसे ठीक से संवार दो और कमरा भी ठीक कर देना।

मैंने स्कूल से लौटकर वह सब कर डाला। दूसरे दिन मैं स्कूल जाने के लिए तैयार हो रहा था कि बाबूजी ने मुझे बुलाया। पूछा—तुमने सब कुछ बहुत ठीक कर दिया, मैं बहुत खुश हूं, पर वे मेरे कुर्त्ते कहां हैं?

मैं बोला—वे कुर्ते थे भला! कोई यहां से फट रहा था कोई वहां से। वह सब मैंने अम्मा को दे दिया है।

उन्होंने पूछा—यह कौन-सा महीना चल रहा है?

मैंने जवाब दिया—अक्तूबर का अंतिम सप्ताह।

उन्होंने आगे जोड़ा—अब नवम्बर आयेगा। जाड़े के दिन होंगे तब ये सब काम आयेंगे। ऊपर से कोट पहन लूंगा न!

मैं देखता रह गया। क्या कह रहे हैं बाबूजी? वे कहते जा रहे थे—ये सब खादी के कपड़े हैं। बड़ी मेहनत से बनाये हैं बीनने वालों ने। इसका एक-एक सूत काम आना चाहिए।

यही नहीं मुझे याद है, मैंने बाबूजी के कपड़ों की तरफ ध्यान देना शुरू किया था। क्या पहनते हैं। किस किफायत से रहते हैं। मैंने देखा था, फटा हुआ कुर्ता एक बार उन्होंने अम्मा को देते हुए कहा था—इनके रूमाल बना दो।

बाबूजी का एक तरीका था, जो अपने आप आकर्षित करता था। वे अगर सीधे से कहते—सुनील, तुम्हें खादी से प्यार करना चाहिए, तो शायद वह बात कभी भी मेरे मन में घर नहीं करती। पर बात कहने के साथ-साथ उनके अपने व्यक्तित्व का आकर्षण था जो अपने में सामने वाले को बांध लेता था और वह स्वतः उन पर अपना सब कुछ निछावर करने पर उतारू हो जाता था।

अम्मा जी से भी उन्होंने वही करवाया था। अपनी शादी की चर्चा करते अम्मा जी बताती हैं—हमारी शादी में चढ़ावे के नाम पर सिर्फ पांच थान गहने आये थे लेकिन जब हम विदा होकर रामनगर आई तो वहां मुंह दिखाई में इतने गहने मिले कि परात भर गई थी।

सभी नाते-रिश्तेदार वालों ने कुछ-न-कुछ दिया था ।

जिन दिनों हम लोग बहादुरगंज के मकान में आये, उन्हीं दिनों तुम्हारे बाबू के चाचाजी को कोई घाटा लगा था । किसी तरह से कोई बाकी का रुपया देना पड़ा—बात क्या थी, उसकी ठीक से जानकारी लेने की जरूरत हमने नहीं सोची और न ही इसके बारे में कभी कुछ पूछ-ताछ की ।

एक दिन तुम्हारे बाबूजी ने दुनिया की मुसीबतों और मनुष्य की मजबूरियों को समझाते हुए जब हमसे गहनों की मांग की तो क्षणभर के लिए हमें कुछ वैसा लगा और गहना देने में तनिक हिचकिचाहट महसूस हुई, पर यह सोच कि उनकी प्रसन्नता में हमारी खुशी है, हमने गहने दे दिये । केवल टीका, नथुनी, बिछिया रख लिये थे । वे हमारे सुहागवाले गहने थे । उस दिन तो उन्होंने कुछ नहीं कहा पर दूसरे दिन वे अपनी पीड़ा न रोक सके । कहने लगे—तुम जब मिरजापुर जाओगी और लोग गहनों के सम्बन्ध में पूछेंगे तो क्या कहोगी ?

हम मुस्करायीं और कहा—उसके लिए आप चिंता न करें । हमने बहाना सोच लिया है । हम कह देंगी कि गांधीजी के कहने के अनुसार हमने गहने पहनने छोड़ दिये हैं । इस पर कोई भी शंका नहीं करेगा । तुम्हारे बाबूजी तनिक देर चुप रहे, फिर बोले—तुम्हें यहां बहुत तकलीफ है, इसे मैं अच्छी तरह समझता हूं । तुम्हारा विवाह बहुत अच्छे, सुखी परिवार में हो सकता था, लेकिन अब जैसा है वैसा है । तुम्हें आराम देना तो दूर रहा, तुम्हारे बदन के भी सारे गहने उतरवा लिये ।

हम बोलीं—पर जो असल गहना है वह तो है। हमें बस वही चाहिए। आप उन गहनों की चिंता न करें । समय आ जाने पर फिर बन जायेंगे । सदा ऐसे ही दिन थोड़े ही रहेंगे । दुख-सुख तो सदा ही लगा रहता है ।

और दुख-सुख की बात पर याद आता है । बाबूजी के न रहने पर अम्मा का टीका मिटा दिया गया था और हाथ की चूड़ियां फोड़ दी गयी थीं । पर नाक में हीरे की कील आज भी है । लोगों के टोकने पर उन्होंने कहा था—यह उनकी पहनाई हुई है, मेरे शरीर के साथ जायेगी ।

प्रधानमंत्री होने पर बाबूजी के मद्रास जाने का कार्यक्रम बना। अम्मा जी ने बताया—हम भी उनके साथ गयीं। मद्रास की तरफ स्त्रियों में नाक में कील पहनने का बड़ा रिवाज है। करीब-करीब सभी पहनती हैं। कील हम भी पहनती हैं और उस समय भी पहने हुए थीं। वहां कुछ मिलने-जुलने वाली महिलाओं ने सुझाव रखा कि अगर सोने की जगह हीरे की कील पहनें तो बड़ी फबेगी।

हमें उनका प्रस्ताव भला लगा और हीरे की कील पहनने के लिए मन ललक उठा। रात में शास्त्रीजी को फुरसत मिलने पर हमने अपनी इच्छा व्यक्त की। वे तनिक देर सोचते रहे फिर बोले—आज तुम्हारे मुंह से यह बात सुन बड़ा आश्चर्य हो रहा है। मैंने तो तुम्हें समुद्र की तरह गम्भीर और बड़ा समझा है। खैर, अगर तुम्हारी तबीयत है तो हीरे की कील बनवा दूंगा। वैसे वह सब कुछ अच्छा नहीं होता।

हम चुप रहीं। उन्होंने एक बहुत बड़ी बात कह दी थी। हम काफी देर तक सोचती रहीं। गलती का अंदाज हुआ। पश्चात्ताप हुआ, ऐसी बात क्यों कही? हमारे अंदर हीरे और सोने की भावना क्यों कर आयी। दूसरे दिन हमने उनसे कील के लिए मना कर दिया। बात आयी-गयी हो गई।

मद्रास से लौटकर हम लोग दिल्ली आये। कितने दिन हो गये थे। हमें नहीं मालूम था कि उन्होंने मद्रास में किसी से कील बनवाकर भेजने के लिए कह दिया है क्योंकि एक दिन दोपहर को जब वे भोजन के लिए आये तो उन्होंने हमें बुलाया। उस समय हम रसोई में थीं। उन्होंने हाथ-वाथ धोकर आने के लिए कहा। हाथ धोकर आने पर जेब से कील निकाल मेरे हाथों पर रख दीं। हम अचरज से देखती रह गयीं।

अम्मा जी को इस बात पर सभी को चुप रह जाना पड़ा कि वे शास्त्रीजी की पहनाई कील नहीं उतारेंगी। अम्मा जो हैं, मुझे लगता है मेरी दादी का 'इक्सटेंशन' हैं। इस बात को समझाने के लिए आपके सामने उनके जीवन का एक और उदाहरण रखना होगा। जो कि मेरे जीवन को गढ़ने-बनाने-संवारने में बहुत ही उपयोगी हुआ है। आज की इस आपाधापी की जिंदगी में जबकि चारों तरफ मानव-मूल्यों का ह्रास हुआ है, लोगों को ये बातें समझ में नहीं आयेंगी—पर तनिक

गम्भीरता से सोचने पर उनका सही औचित्य सामने आ जायेगा।

बड़े-बड़े नेताओं के आने पर दादी मेरी अम्मा को लेकर खुद सभाओं और जुलूसों में जाया करती थीं और जब-तब शास्त्रीजी के साथ भी जाने को कहतीं। उस समय अम्मा को घूंघट का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। दादी को किसी का खुले मुंह चलना नापसंद था। उनके साथ, शऊर के साथ, बड़े कायदे से चलना पड़ता था। तब की बातों और आज की बातों में कितना फर्क आ गया है। अम्मा ने बताया, तुम्हारे बाबूजी ऐसा कोई भी काम नहीं करते थे जिससे अम्मा को, तुम्हारी दादी को ठेस लगे।

सत्याग्रह का जमाना था। तुम्हारे बाबूजी बहुत चाहते थे कि हम सत्याग्रह में भाग लें, पर अम्माजी के कारण ऐसा नहीं हो पाता था। उनका कहना था कि हम स्त्रियों को पहले घर का काम देखने के बाद बाहर का काम देखना चाहिए।

ऐसा न होने से घर तो बिगड़ता ही है, बाल-बच्चों का जीवन भी नष्ट हो जाता है।

बाबूजी अपनी अम्मा से बहस नहीं कर सकते थे। उन्हीं दिनों गांधीजी ने विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आंदोलन चलाया और शहर में जगह-जगह पिकेटिंग होने लगी। एक दिन नेहरूजी की पत्नी कमला जी ने शास्त्रीजी से पूछा—"आप अपनी श्रीमतीजी को क्यों नहीं निकालते हैं।"

"उन्हें तो जब आप निकालेंगी तभी वे निकल पायेंगी। हमसे मुश्किल है।" तुम्हारे बाबूजी ने जानबूझ कर यह ऐसा जवाब दिया था कमला नेहरूजी को। वे समझते थे कि कमलाजी के आने पर दादी अम्माजी को भेजने से इनकार नहीं कर सकती थीं। और हुआ भी यही।

अम्मा ने कहा—एक दिन कमलाजी आईं। वे बड़ी सरल और सीधी थीं। हमसे बातचीत के बाद अम्माजी से हमें पिकेटिंग पर भेजने के लिए कहा। अम्माजी उनकी बातों को नहीं टाल सकीं। दूसरे दिन हमारी तैयारी हो गई। पिकेटिंग पर जाने से पहले हमने शास्त्रीजी से पूछा कि हमें वहां करना क्या होगा? उन्होंने समझाया कि हमें कपड़े की दुकान के आगे खड़े होकर उन भाई-बहनों को, जो कपड़ा खरीदना चाहते हों, नम्रतापूर्वक विदेशी वस्त्र न खरीदने का निवेदन करते

रहना है। उन्होंने इस बात को सभी तरह से समझाया कि हमें जो कुछ भी कहना, है बड़ी नम्रता से कहना है। हमारी बातों से किसी भाई-बहन को दुःख नहीं पहुंचना चाहिए।

गौतम जी की पत्नी हमारे ही मकान में रहती थीं। हम और वो मिलकर एक दुकान में जो चौक में थी, घण्टाघर के पास, जाकर खड़ी हो गयीं। जो लोग कपड़ा लेने आते उन्हें कपड़ा लेने से मना करने लगीं पर संकोचवश स्त्रियों से ही अपनी बातें कह पाती थीं। हम लोगों की ड्यूटी बारह से दो तक की थी। लगभग बारह-साढ़े-बारह बजे बगल के एक दुकानदार और किसी पिकेटिंग करने वाले से कहा-सुनी हो गई। जैसे-तैसे बात बढ़ गई। भीड़ भी आ जमा हुई। इसी भीड़भाड़ में किसी ने दुकान में आग लगा दी। दुकान जलने लगी। फिर पुलिस आ गई। भगदड़ मच उठी। गौतम जी की पत्नी घबराकर बोलीं—"चलिए, हम भी चलते हैं। यहां रहकर क्या हम लोग अपनी बेइज्जती करायेंगी?"

घबराहट तो हमें भी हो रही थी। पर समय से पहले जाने पर कहीं वे बुरा न मान जायें, हमने उनसे कहा—"कहीं गौतम जी और शास्त्री जी बुरा न मान जायें। दो बजे तक हम लोगों को यहीं रहना चाहिए।"

वे अधिक रुकने के लिए राजी नहीं हुई। लाचार मुझे भी उनके साथ वापस आना पड़ा।

रात में लौटने पर उन लोगों को सारा हाल मालूम हुआ तब गौतम जी अपनी पत्नी को चिढ़ाते हुए बोले—"तुम बड़ी कायर हो। इसी हिम्मत पर देश आजाद कराओगी? जब बहू रुकने को तैयार थी तब भी तुम डर गईं। बड़ी शर्म की बात है!"

अगले दिन हमारी हिम्मत कुछ खुल गई थी। और हम मर्दों से जब-तब कपड़ा न लेने का आग्रह करने लगीं। दो बजे के लगभग जब तुम्हारे बाबू और गौतम जी आये तो हम सब लोग घर आ गयीं। चौथे दिन फिर उसी समय आना हुआ। जिस दुकान के सामने हम पिकेटिंग कर रही थीं, उसमें एक भाई साहब अपनी पत्नी या बहन के साथ शादी के लिए कपड़ा खरीद रहे थे। हम अन्दर जा जब उनसे मना करने लगीं तो दुकानदार चिढ़कर बोला—"विदेशी कपड़े खरीदने के लिए मना तो करती हैं, पर आप स्वयं विदेशी चूड़ियां पहने हुए हैं,

सो ?"

यह सुन हम सिटपिटाई। फिर भी हमें विश्वास था कि हमारी चूड़ियां विदेशी नहीं होंगी, इसलिए अपनी चूड़ियों की ओर संकेत करते हुए कई बार उसे सरकाते पूछा—"ये विदेशी हैं, ये विदेशी हैं ?"

वह बोला—"हां, बिलकुल विदेशी हैं। इसी बीच गौतम जी की पत्नी बोल पड़ीं—"तू जो घड़ी हाथ में बांधे हुए है, वह भी तो विदेशी है !"

दुकानदार बोला—"हां, है। मैं तो सभी कुछ विदेशी बेचता हूं। विदेशी से नफरत आपको, है मुझे नहीं।"

तभी मेरे मन में शंका उठी अगर कहीं चूड़ियां फोड़नी पड़ीं तो घर जाकर अम्मा जी को क्या जवाब दूंगी। लेकिन तभी मेरे मुंह से निकला—"अच्छा, अगर आप कहते हैं कि ये चूड़ियां विदेशी हैं तो हम इनको फोड़ दें तो आप भी अपनी घड़ी फोड़ देंगे ?"

दुकानदार न जाने क्यों कह गया—"हां, फोड़ दूंगा, लेकिन पहले आपको अपनी चूड़ियां फोड़नी होंगी।"

दुकानदार की बात अभी पूरी नहीं हुई थी कि शास्त्री जी और गौतम जी वहां पहुंचे। हमने उन्हें देखते ही पूछा—"ये कह रहे हैं कि ये चूड़ियां विदेशी हैं !"

तुम्हारे बाबूजी ने कहा—जब ये कह रहे हैं तो हो सकती हैं, कहते उन्होंने इशारा सामने रखे गज की तरफ किया और भाव जताया कि हम चूड़ियां फोड़ दें। हमने चोटी से दो लाल धागे तोड़कर दोनों हाथ में बांध लिया फिर सारी चूड़ियां उतारकर गज से फोड़ डालीं।

हमारा फोड़ना था कि गौतम जी की पत्नी ने दुकानदार से घड़ी उतारकर तोड़ने को कहा। दुकानदार आनाकानी करने लगा, वह किसी भी दशा में घड़ी तोड़ने को तैयार नहीं था। इस पर वह महिला, जो सामान खरीद रही थीं, दुकानदार पर बिगड़ उठीं और बोलीं—"यह तो आपकी सरासर धूर्तता है। इन लड़कियों की आपने चूड़ियां तुड़वा दीं और जब अपनी बारी आई तो कतरा रहे हैं। यह तो कोई बात नहीं हुई।"

फिर क्या था तू-तू, मैं-मैं करते बात बढ़ गई और इतनी बढ़ी कि साथ वाले सज्जन, जो कपड़ा खरीद रहे थे, मोल लिये कपड़ों में आग लगाई ही, साथ ही दुकान में भी आग लगा दी।

तुम्हारे बाबू जी और गौतम चाचा कब चले गये, हम लोगों को जानकारी नहीं हो सकी।

घर पहुंचने पर जैसे ही अम्मा जी की नजर मेरे हाथों पर पड़ी, कुछ नाराज हो, वे चूड़ियों के टूटने का कारण पूछने लगीं। सही बात बताने पर वे बिगड़तीं। हमने उनके बचऊ का अशुभ किया इसलिए हमने दूसरा बहाना बता दिया—आज उन सारी बातों पर सोच कितना अचरज होता है।

मैं उन क्षणों का गवाह नहीं हूं, पर जो कुछ अम्मा जी ने बताया-सुनाया है, उसे याद कर उस जमाने का, अंग्रेजी शासन का, जीता-जागता चित्र खड़ा किया जा सकता है। वह चित्र हमें अपनी कठिनाइयों का हल खोजने में मदद करता है, इसलिए जब भी मैं तनिक मुसीबत में पड़ता हूं, तो भागकर अम्मा के पास जा पहुंचता हूं और सलाह करता हूं—बातचीत में कोई-न-कोई हल निकल आता है। एक सही सच्चा हल।

उस दिन जब उत्तर प्रदेश सरकार के मंत्री पद से इस्तीफा देने की बात खड़ी हो गई तो वह अम्मा जी ही थीं जिन्होंने बढ़कर धीरज दिया और सही रास्ता बताया—"तुम कांग्रेस में पले, जन्मे और बड़े हुए हो। उससे अलग होकर तुम्हारा अपना कोई अस्तित्व नहीं। तुम कुछ भी करो पर उससे अलग होने की बात का कोई अर्थ नहीं!"

"सच्चा कांग्रेसी और कौन होगा ? आत्मसम्मान के आगे पद का कोई स्थान नहीं होता।" अम्मा जी की ये बातें मेरे लिए पत्थर के वाक्य हैं। मैं चाहे जो सोचता या भोगता हूं, वह मेरा अपना भोग है। जो अम्मा जी की आज्ञा से ऊपर नहीं। उस महत्त्वपूर्ण निर्णय में जितना हाथ अम्मा जी का है उससे कम बाबू जी का नहीं है।

वे संस्कार जिसकी नींव उन्होंने डलवाई हैं, जिसमें मैं ढाला गया हूं, आज की राजनीति वाले चाहे उसका मूल्य न मानें फिर भी कहीं तो गहरा सच है, जैसा अपने जमाने में बाबू जी के लिए था। हमारी जड़ें कांग्रेस में गहरी हैं जिनका मुकाबिला कहीं और हो ही नहीं सकता।

मैं आपके साथ इन सारी बातों को केवल इसलिए बांट कर नहीं जी रहा कि इनसे मेरा रागात्मक सम्बन्ध है। मेरा कोरा सेंटिमेंटल लगाव ही नहीं है कि मैं इन सारी अनहोनी घटनाओं को खोद-खोद कर दोहरा रहा हूं, बल्कि मैं उन बातों की तह तक पहुंचना चाहता

हूं, उन दार्शनिक दृष्टिकोण से परिचित होना चाहता हूं जिनसे बाबू जी की लघुता में प्रभुता के दर्शन होते हैं। इन घटनाओं के बीच कोई-न-कोई सूत्र ऐसा होगा जिनकी वजह से एक व्यक्ति अपनी साधारण सीमाओं के बावजूद प्रधानमंत्री ही नहीं बनता बल्कि उस पद के योग्य अपने को प्रमाणित करने में सफलता प्राप्त करता है। वे सूत्र और बीज क्या थे ? इस ऊहापोह में कुछ और बातें अम्मा जी की बताई याद हो आयीं जब भारत आजाद हुआ था।

अम्मा जी ने सुनाया—शास्त्री जी जेल से छूटकर आये। बरसों की गुलामी खत्म हो गई थी। गांधी जी की तपस्या पूरी हुई थी। देशवासी प्रसन्न थे। ऐसे प्रसन्न कि जिसका बखान करना भी कठिन है। किसी को आशा नहीं थी कि सैकड़ों वर्ष की गुलामी इस तरह फुर्र से खत्म हो जायेगी और वह भी बिना मारकाट के। हां, देश के बंटवारे के कारण जरूर कुछ उलझन हुई थी और इधर-से-उधर और उधर-से-इधर आने-जाने में लोगों को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ी थीं, लेकिन इसके सिवा चारा भी कोई नहीं था।

स्वतन्त्रता की विधिवत् घोषणा तो सन् 1947 में हुई थी और उसके बाद अपना विधान बना था, लेकिन उससे पहले अंतरिम सरकार गठित हुई थी। उस सरकार का और गुलामी का अन्दाज उन लोगों को कतई नहीं लग सकता जो स्वतन्त्रता के बाद जन्मे हैं।

तुम्हारे बाबू जी ने जेल से आने के कुछ ही दिनों बाद एक सवेरे दाढ़ी बनाते हुए कहा—"पंत जी ने लखनऊ बुलाया है।"

मेरे कान खड़े हो गये और हमने पूछा—"क्यों ?"

"अब वहीं रहना होगा !"

हम बोलीं—"तब तो बड़ी परेशानी होगी। यहीं खर्च मुश्किल से चल पाता है, फिर भला वहां कैसे चल पायेगा। आप मना कर दें। यहीं इलाहाबाद में रहिए। वहां बड़ी दिक्कत होगी !"

वे बोले—"लेकिन, भई, वहां पैसे मिलेंगे।"

हमने उत्सुकता से उनकी ओर निहारते पूछा—"कितने ?"

उन्होंने कहा—"इतने कि जिससे काम चल जायेगा।"

"तब ठीक है। चले जाइए !" हम बोलीं।

वे बोले—"अभी तो आप जाने के लिए मना कर रही थीं और···!"

हम बीच में बोलीं—"हम अपने लिए नहीं, बच्चों के लिए कह रही हैं। उन लोगों ने आराम नाम की कोई चीज जानी नहीं है न। कष्ट-ही-कष्ट देखा है। अब उन्हें थोड़ा आराम मिलेगा। इसीलिए हमने आपसे जाने के लिए कह दिया। हमें अपनी सुख-सुविधा की रत्ती भर चिंता नहीं। आप जहां हैं, वहीं हमारे लिए सब कुछ है।"

और यह बात तो सभी को मालूम है कि बाबू जी ने कभी जीवन-यापन के लिए हाथ नहीं बढ़ाया, न ही किसी से कर्ज लिया। इसके लिए वे अम्मा और बच्चों को जिम्मेदार मानते रहे हैं। अम्मा जी कहती हैं कि उन्हें आरम्भ से इस बात का एहसास था कि बाबूजी एक दिन बड़े ओहदे पर होंगे, इसलिए सारी कठिनाइयों के बावजूद चाहे उन्होंने तीन-तीन दिन अपने बच्चों से फांके करवा लिये, कभी किसी का काम करने और छोटी-मोटी नौकरी कर पेट नहीं भरा। वे कहती हैं—"हम जानती थीं कि एक दिन शास्त्री जी बड़े ओहदे पर होंगे। तब आज जो हमें दस आने रोज की मजदूरी देकर ऊन लपेटने या इसी तरह का काम करने की सलाह दे रहे हैं, वे ही ताने देंगे इसलिए भविष्य की बात सोचकर मैंने उन लोगों के सहयोग को नहीं स्वीकारा। पर आज के जमाने में वह सुख और संतोष नहीं है जो पहले था, जब हम अभाव में रहते थे।

उत्तर प्रदेश के मंत्री पद से अलग होकर मैं इसी सवाल से जूझ रहा हूं। भागते हुए रथ के पहिए को विपरीत दिशा में नहीं घुमाया जा सकता। जो चल पड़ा है उसे बदलकर पुराने मूल्य नहीं लादे जा सकते, पर हम उखड़े हुए, भटके हुए लोगों को उनकी जड़ों से तो जोड़ सकते है। क्या गांधी जी का चरित्र बाबू जी में कूट-कूट कर नहीं समा गया था।

आज के सन्दर्भ में उनकी सहजता के अर्थ नहीं लगाये जा सकते, पर वे कुछ गहरे तथ्य हैं, जो मुझे, गो कि मैंने उस जीवन का अभाव नहीं भोगा, फिर भी बाबूजी को देखा-परखा है, खींचते हैं। अब जब कि उनके पास चीजों की कोई कमी नहीं थी और वे प्रधानमंत्री थे तब भी उनके काम और बात करने के तौर-तरीके में फर्क नहीं आया। अब भी वे अपने कपड़ों और खादी से इतना लगाव रखते हैं, अभी भी उनके फटे हुए, पुराने-गले कुर्ते कोट के नीचे जाड़ों में काम आते हैं।

अभी भी वे घर को गंदा नहीं देख सकते हैं। गंदगी को साफ करने

में जब वे खुद लग जाते हैं और उस समय कोई हाथ बंटाने आ खड़ा हो या सहयोग देने लगे तो हमेशा की तरह वे उसे आज भी बरदाश्त नहीं कर पाते। यह विचार और चरित्र की गहनता ही तो कहा जायेगा। प्रधानमंत्री हैं। उन्होंने घर में प्रवेश किया है। हम बच्चों ने ढेर सारे कागज फाड़कर जगह-जगह छितरा रखे हैं। वे खाने पर जाते-जाते खाना भूल उन्हें उठाने-बीनने लगते हैं। अम्माजी दूर खड़ी अपने को कोस रहीं, अफसोस कर रही हैं क्योंकि वे मदद करने से भी मजबूर हैं—यह उन्हें नापसन्द है। दूसरे नौकर-चाकर देख रहे हैं और कर कुछ नहीं सकते।

उनका यह तरीका मुझ पर ऐसी गहरी छाप डाल गया कि उनके आने पर हम सभी चौकन्ने रहने लगे। नौकर बड़ी-से-बड़ी गलती कर डालें, बाबूजी को डांटते कभी किसी ने नहीं सुना। एक बार तो एक नौकर की थोड़ी-सी असावधानी के कारण उनका हवाई जहाज आधे घंटे लेट हो गया। हुआ यह कि जो बक्सा उनके साथ जाना चाहिए था उसे न भेजकर एक दूसरा बक्सा हवाई जहाज में भेज दिया। गलती मालूम होने पर वह बक्सा हवाई जहाज से उतारा गया और सही बक्सा पहुंचाया गया। लेकिन इस सब के बावजूद उन्होंने उससे यह जवाब-तलब भी नहीं किया कि ऐसी गलती कैसे हुई ?

दरअसल उनका काम करने का तरीका अपनेपन का अनोखा था। वे आदमी को उसके परिवेश से जोड़कर कुछ इस तरह व्यवहार करते थे कि आदमी खुद इस बात का अनुभव करने लगता था कि गलती फिर न हो। वे क्या सोचते हैं यह जानना बहुत कठिन था क्योंकि वे कभी भी अनावश्यक मुंह नहीं खोलते थे। किस काम से अधिकाधिक लोगों को सुख पहुंच सकता है—इस बात की मिसाल वे खुद थे। खुद कष्ट उठाकर दूसरों को सुखी देखने में उन्हें जो आनन्द मिलता था उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अम्माजी बताती हैं कि वे उनके साथ बम्बई जा रही थीं और शास्त्री जी रेलमंत्री थे। गर्मी का महीना था। उनका फर्स्ट क्लास वाला डिब्बा लगा था। गाड़ी चलने पर शास्त्रीजी बोले—"डिब्बे में काफी ठंडक है वैसे बाहर गर्मी है।"

इस पर उनके पी० ए० कैलाश बाबू ने कहा—"जी, इसमें कूलर लग गया है!"

बाबूजी ने उन्हें पैनी निगाहों से देखा और आश्चर्य व्यक्त करते

हुए पूछा—कूलर लग गया है ?

"जी हां।"

"बिना मुझसे बताये ? आप लोग कोई काम करने से पहले मुझसे पूछते क्यों नहीं ? क्या वे और सारे लोग जो गाड़ी में चल रहे हैं, उन्हें गर्मी नहीं लगती होगी ? कायदा तो यह है कि मुझे भी थर्ड क्लास में चलना चाहिए, लेकिन उतना तो नहीं हो सकता पर जितना हो सकता है उतना तो करना चाहिए।"

कैलाश बाबू बेचारे क्या जवाब देते।

बाबूजी ने आगे कहा—"बड़ा गलत काम हुआ है। आगे गाड़ी जहां भी रुके, कूलर पहले निकलवाइए।"

मथुरा स्टेशन पर गाड़ी रुकी। कूलर निकालने के बाद गाड़ी आगे चली। आज भी उस फर्स्टक्लास में उस जगह, जहां कूलर लगा था, वहां पर लकड़ी जड़ी है।

अम्मा से यह सुन मैं अपने मन से लड़ता हूं। यह बात सिद्धांत प्रतिपादित करने की नहीं, सिद्धांत को जीने की है, उसे जीवन में उतारने की है। उन्हें साधारण देशवासियों से, उसकी कठिनाइयों से उसे उबारने की सच्ची लगन थी। उससे वे निहायत प्यार करते थे क्योंकि वे उनके बीच से ही उभरे हुए थे और इसीलिए उन्होंने मुझे भी उन आदमियों के, साधारण आदमियों के बीच जीने-समझने के लिए भेजा, अवसर दिया।

एक और गहरी बात अम्मा बताती हैं कि जब उन्हें कभी पैसे की जरूरत पड़ती तो वे अम्मा के पास से कैसे पैसे मांगकर लोगों का कष्ट-निवारण करने में सहयोग करते थे। अम्मा का अपना अनुभव है कि जब, जिस दिन वे एक हाथ में टोपी और दूसरे हाथ से सिर खुजाते बाबूजी को अंदर आते देखतीं तो वे समझ जाती थीं कि उन्हें पैसों की जरूरत पड़ गयी है। तत्काल ही वे अपनी लड़कियों—चाहे कुसुम हो या सुमन—जो भी पास में होतीं धीरे से कह देतीं—"देखो अब तुम्हारे बाबूजी रुपये मांगने वाले हैं।"

सर खुजलाते आते हुए पहले तो बाबूजी उस सम्बन्धित व्यक्ति की कठिनाइयों की चर्चा करते, तकलीफों का बयान करते और उसके बाद अम्माजी से रुपयों की मांग करते।

अम्माजी के ना-नू करने पर मुस्कराते हुए कहते—"देखिए-देखिए, किसी साड़ी की परतों में रखे होंगे। आपके पैसों से किसी की जरूरत पूरी होगी, तकलीफ दूर होगी, यह कितनी बड़ी बात है।" और अंत में अम्माजी को रुपये निकालने ही पड़ते।

अम्मा-बाबूजी का रिश्ता बखाना नहीं जा सकता। दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। और एक-दूसरे की आवश्यकताओं और मांगों को समझते थे और पूरा करने में सहयोग देते थे।

उनके आपसी सहयोग की एक और घटना याद आती है। स्वतंत्रता से पहले की बात है। अम्मा बताती हैं—जब शास्त्रीजी जेल से बाहर हुआ करते तब पंडितजी का सारा पत्रव्यवहार वही किया करते थे। और जरूरत पड़ने पर पंडितजी कितने ही मामलों पर उनसे सलाह-मशविरा भी किया करते, पर शास्त्रीजी अपने स्वभाव के अनुसार, कभी उनसे अपने लाभ की बात बिरले ही की हो। पंडितजी पर शास्त्रीजी को बहुत अधिक विश्वास था। पंडितजी को लोग तरह-तरह की चिट्ठियां लिखा करते और उनसे रास्ता पूछा करते अपनी समस्याओं का। एक दिन उनके पास एक महाशय की चिट्ठी आई। जो पत्र आया उसका सारांश था कि उनको अपनी पत्नी पर शक था और उसकी वजह से पारिवारिक जीवन में कलह समा गई थी। वे किसी तरह अपनी शंका का समाधान चाहते थे। और उस पर पंडितजी का मशविरा चाहते थे। पंडितजी ने उस चिट्ठी को शास्त्रीजी के सामने रख दिया।

शास्त्रीजी जवाब टालना चाहते थे—"इसके उत्तर की क्या जरूरत है, यह बात नितांत व्यक्तिगत है।"

इस पर पंडितजी ने सलाह दी—"नहीं, जवाब दिये बिना कैसे रहा जा सकता है। तुम इसे घर ले जाकर अपनी पत्नी को दिखाना। वे अवश्य ही जवाब बतायेंगी। मुझे तो इस तरह की बातों का कोई अंदाज नहीं, कमला होतीं तो और बात थी।"

पंडितजी की बात टालना या काटना हो नहीं सकता था। तुम्हारे बाबूजी चिट्ठी लेकर घर आये और खाना-वाना होने के बाद टहलते-टहलते उन्होंने चिट्ठी की सारी बात बताई। हम सुनती रहीं। हमें गुमसुम देख शास्त्रीजी ने राय मांगी। हमने सहज भाव में कह दिया—

"जैसा आप हमारे बारे में सोचते हैं वही लिख दीजिए। हम समझते हैं, उन महाशय की समस्या सुलझ जायेगी।" तुम्हारे बाबू ने वैसा ही किया। इस बात से पति-पत्नी के आपसी सम्बन्धों को सही परिप्रेक्ष्य में आंका जा सकता है। व्यक्ति का भाग्य परिवार से ऊपर उठकर देश के साथ किस तरह जुड़ जाता है, उसमें उसकी पत्नी का योगदान किस तरह होता है, इसमें हम अपने घर का उदाहरण सामने रखे बिना नहीं रह सकते। क्योंकि हमने वह सब घटते देखा है।

बाबूजी रेलमंत्री के बाद कामर्समंत्री हुए और फिर गृहमंत्री। हमने देखा है, मेरी अम्मा की पूजा और देव-आराधना बढ़ती जाती थी। यह क्रम उनके इलाहाबाद में हुए हार्टअटैक के बाद बढ़ता ही गया है।

9 जून सन् 1964 को बाबूजी प्रधानमंत्री बने। हमारा घर एक पार्क प्लेस ही रहा। पर उसकी कायापलट हो गयी थी। अम्मा से लोग पूछते—उन्हें कैसा लग रहा है और उस सवाल से उनकी आंखों की चमक बढ़ जाती थी—वह ठीक वैसे ही था जैसे कोई मुंह में लड्डू डालकर उसका स्वाद पूछे। उस समय मेरी समझ आज से कहीं कितनी कच्ची थी पर उलट कर देखने पर उस सबका नया अर्थ सामने खुलता जा रहा है। उनका भजन-पूजन अधिक बढ़ गया था क्योंकि उनके पति पूरे राष्ट्र के भाग्य-विधाता बन गये थे। उन्हें देश की शान और सम्मान को बढ़ाना था। जो कुछ पंडितजी कर गये थे, उसे बरकरार रखते हुए आगे चलना था।

पंडितजी के अकस्मात देहांत से देश पर वज्रपात हुआ था। सभी जन—नर-नारी बिलख रहे थे। और शास्त्रीजी उनके कितने निकट थे। उनकी व्यथा की गहराई को नापा नहीं जा सकता। उनके आंसू थमते नहीं बनते थे। ऐसा लगता था कि जैसे उनका सर्वस्व छीन लिया गया हो। अब उन्हें ही देश के दीन-दुखियों का कष्ट दूर करके सगे भाई-बहनों का-सा सुख और संतोष देना था। और यह सब कुछ भगवत्-कृपा से ही संभव हो सकता था—ये मेरी मां, मेरी अम्मा का विश्वास था। इसलिए पल-प्रतिपल वे भगवान की आराधना-पूजा में लगी रहतीं, जिससे पति को, मेरे बाबूजी को ऐसी शक्ति मिले, सामर्थ्य मिले और वे अपने कर्तव्यों में पूरी तरह से सफल हो सकें। अब उनका सारा समय देश को समर्पित था। इस सब काम की आदत उन्हें

बरसों पहले ही से पड़ती चली आ रही थी। वे जब उत्तर प्रदेश के पुलिसमंत्री थे, नहीं उससे भी पहले जब वे आजादी से पूर्व कांग्रेस पार्टी का काम देखते थे तो उन्हें आर्गनाईजेशन की चीजों, मतभेदों के निबटाने की ढब बन गयी थी। वे समस्याओं की गुत्थी में सिरा खोजने में माहिर हो गये थे और उनके फैसले जरूरत के अनुसार गहराई लिये हुए होते थे। वे विरोधियों को भी अपने खेमे में ले आते। उन्हें अपने विचारों से झुका लेते थे। इसलिए काम उनके लिए बोझ नहीं था। वे अपने तरीके से विभिन्न तरह के विरोधाभासों के बीच समन्वय स्थापित करने में माहिर थे। पार्टी संगठन ने उन्हें यह महारत हासिल करवाई थी। इस सारी बातों के बावजूद वे कभी भी किसी तरह की चर्चा का विषय नहीं बने क्योंकि उन सारी बातों में उनका स्वार्थ-कभी आड़े नहीं आया। वे पक्के गांधीवादी थे और राजनीति के बीच भी वे गांधी के विचारों को जीते, उसका प्रयोग करते रहे।

इस सिलसिले में मेरी अम्मा ने एक उदाहरण दिया—तुम्हारे बाबूजी को आम बहुत पसंद थे। उन दिनों शास्त्रीजी फैजाबाद जेल में थे। हमने दो आम उनके लिए खरीदे। फैजाबाद पहुंचने पर हमने दोनों आम ब्लाउज़ के अंदर छिपा लिये, क्योंकि फाटक पर जमा करने पर अंदेशा था कि खाने-पीने की चीज जाने उन तक न पहुंचे। फिर यह भी लालच था कि अपने हाथों खिलाने का सौभाग्य भी मिलेगा। ऐसा अवसर कब और कहां मिल पाता है। यही सोच हमने यह विधि अपनाई और आम को छिपाकर अंदर ले गयीं।

जैसे ही हमने आम निकालकर शास्त्रीजी के सामने रखे, वे एकदम बिगड़ उठे—इसका तो हमने ध्यान ही नहीं किया था। कभी सोचा ही नहीं था कि इसमें चोरी जैसी भी कोई बात होगी और तुम्हारे बाबूजी थे जो बिगड़कर कह रहे थे—"यह क्या, आप इन्हें चोरी से लेकर आई हैं। मैं इन्हें नहीं छुऊंगा और अभी चलकर फाटक पर कहता हूं कि यह काम आपने चोरी से किया है। पूछूंगा, आपकी तलाशी क्यों नहीं ली गयी ? आपने इस तरह की हरकत कैसे की ? मैं समझता हूं कि आप आम क्यों लायी हैं ! मैं खा लूं तो आपको भी मौसम भर खाने को मिलेगा वरना आप खा नहीं पातीं। यही बात है न ? बड़ी लज्जा की बात है ! अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का भी ईमान गिराती हैं। मैं बिलकुल आम नहीं खाऊंगा !"

उनकी इस तरह की बात सुन हमें रुलाई आ गई। और चारा ही क्या था। इतने दिनों बाद उनसे भेंट मुलाकात हुई थी। मन में जुगत से कैसी कितनी बातें सोच रखी थीं, लेकिन यहां सारी उलट बात हो गई थी। वे मेरी भावना न जानते हों, ऐसी बात नहीं थी, फिर वे क्यों बिगड़ उठे थे, इस कारण मेरी रुलाई थमती ही नहीं थी। मेरे साथ आई मालवीय जी की पत्नी भी कई चीजें छिपाकर लायी थीं। फिर उन्होंने अम्माजी से और सभी लोगों से बातें कीं हम वैसे ही रह गईं। चलते समय वे आम वापस भेज रहे थे पर गौतमजी ने यह कहकर कि वे इसे किसी कैदी को दे देंगे, वापस हो रहे आम मुझसे ले लिये।

अम्मा बताती हैं कि फैजाबाद से वापस आने पर उन्हें बाबूजी की चिट्ठी मिली थी जिसमें उन्होंने अम्माजी से अपने गुस्सा होने पर अफसोस प्रकट किया था और गुस्से में जो कुछ कह गये थे उसके लिए माफी मांगी थी। फिर कितने ही दिनों बाद उन्होंने अम्माजी को बताया कि मेरे चोरी से लाये दोनों आम, जिन्हें गौतमजी ने ले लिया था, एक ऐसे कैदी को मिले जो बीस बरसों से जेल काट रहा था और आम का स्वाद ही भूल चुका था।

बात कहां से आरंभ हो कहां पहुंचती है, यह हम कभी भी नहीं आंक जोड़ सकते, फिर भी हमें हमेशा अपनी ओर से अपना काम करते ही जाना चाहिए। हमेशा अपनी तैयारी रखनी चाहिए, यही निर्माण-कारी व्यक्तित्व की असल बात है। अवसर किसी को प्लेट में संजो कर नहीं दिया जाता। उसे कोशिश करके जुटाना पड़ता है। उसके लिए तैयारी पूरी सजगता से करनी पड़ती है और अम्मा के विवरणों से मैंने यही पाया है।

बाबूजी का उस ऊंचे स्थान पर पहुंचना किसी जोड़-तोड़ का या भाग्य का रचा खेल नहीं था, बल्कि एक पूरी तैयारी थी जिसमें विधान ने भी सहयोग दिया, पर उसके लिए वे बचपन से तैयारी करते ही आ रहे थे वरना कितने ही और लोग थे जिन्हें अवसर मिला पर वे उसका सही उपयोग न कर पाने के कारण, उन क्षणों को आत्मसात न कर सके, उसका फायदा लोगों को न दे सके। यह दूसरी बात है कि बाबूजी के काल का, उनके किये गये कामों का, वर्तमान परिस्थितियों में सही आकलन या सर्वेक्षण नहीं हो पाया है पर वह कभी तो होगा

और कोई-न-कोई उस खोज को उजागर करेगा कि उनकी जड़ें कहां थीं जो उन्हें शक्ति देती रहीं।

शक्ति भवन ! लखनऊ।

इस भवन की बारहवीं मंजिल। यह है मेरा कार्यालय। आज मैं उत्तरप्रदेश सरकार में ऊर्जा मंत्री हूं। इस मंजिल की यह कद्देआदम खिड़कियां ! इससे दिखता लखनऊ शहर का विस्तार ! अभी-अभी अपनी गोल घूमने वाली कुर्सी से मैं उठ खड़ा हुआ हूं। बड़े अफसरान और बिजली बोर्ड के अधिकारी एक अहम मसले पर अंतिम निर्णय के बाद लौट गये हैं और मैं इस खिड़की पर खड़ा सामने फैले विस्तार को देख रहा हूं, जो मुझे चुनौती दे रहा है !

मैंने कितनी-कितनी बार लोगों को समझाने की कोशिश की है कि इस ऊंचाई पर आकर भी मैं अपनी जड़ों से विलग नहीं हुआ हूं। इस कमरे की शालीनता, वैभव मुझे मेरे 'स्व' और मेरे अपनेपन से बांटती है, क्योंकि इस कमरे से मेरा लगाव ही कितना है। मैं अवाम के बीच से उठकर आया हूं और मेरी असली जगह उन सड़कों, गलियारों, चौपालों में है, जहां के साधारण जन-मानस के बीच अनवरत जाता, उनके दुख-सुख को जीता-बांटता हूं। वे जिनका मन इस बारहवीं मंजिल की ऊंचाई से कहीं अधिक विशाल और बड़ा है। यहां खड़े इस सारे खोखलेपन की गरिमा मुझे कचोटती है लगता है वैसे ही खोखली गरिमा में घिरे सिद्धार्थ ने अचानक सड़क पर आकर एक वृद्ध, एक गरीब, एक मृत्यु से साक्षात्कार पाया था और फलस्वरूप वे सब कुछ त्यागकर चल पड़े थे वैराग्य के रास्ते पर !

वैराग्य का मोह जाने मुझे कितने-कितने पल और किन-किन अवस्था में बींधता है, नोचता और मन में बेचैनी पैदा करता है। जब भी मैंने अपने इस बेचैन मन को खोलने की चेष्टा की, पाया कि लोग मुझे समझ नहीं पाते, केवल मीरा के या मेरी मां के। आज की इस आपाधापी में मेरा कहना यह सब हल्का और ढपोरशंखी न हो उठे, इसलिए चाहकर भी मैं वह सब किसी के भी साथ बांटकर नहीं जी पाता, पर यहां इस कागज पर वह सब आपके साथ एक नितांत निज के स्तर पर बांटने-जीने से तो कोई रोक नहीं सकता। आप तो सुनकर मेरी बात पर नहीं हंसेंगे न ! इसलिए यहां, शक्ति भवन की इस

बारहवीं मंजिल की ऊंचाई पर खड़े इस 'मैं' को मेरे घर की, बचपन की वह सारी सचाई खींचकर कहीं और ले जाती है। वहां, जहां भारत की सही आत्मा रहती है। वहां, जहां के लोग कहीं अधिक सच, निर्मल और स्वस्थ वातावरण में जीते हैं, जो छल-कपट की अघोरी संस्कृति से कितना अलग-थलग है। उन सबमें जीने की इच्छा का बीज मेरे मन में उस अलस्सुबह घर कर गया था जब जीवन की भोर आरंभ हुई थी। उस भोर में जब मैंने आंखें खोलीं तो पाया कि मेरे बाबूजी सरकार में हैं, मंत्री हैं। सरकारी गाड़ी, सरकारी बंगले, सरकारी अफसरान और जाने कितना कुछ, पर इस सारी चमक-दमक के बावजूद घर के गलियारे के अंदर आते ही हम-सब एक विचित्र धरातल पर जी रहे हैं। विचित्र ही कहूंगा क्योंकि उस पल वह सब कुछ बड़ा अनोखा, अटपटा-सा लगता था।

मंत्री का बेटा होने के साथ जिस सुख-ऐश्वर्य में था, उसकी सारी चमक-दमक के खोखलेपन से हर पल आगाह भी होता जाता था या बरबस कराया जाता था। इस चेतावनी में जितना हाथ बाबूजी का था, आज जब मैं सोचता हूं वह सब, तो पाता हूं उससे कहीं अधिक मेरी अम्मा, दादी और मेरी बहन सुमन दीदी का रहा है जा सब कहीं बहुत गहरे अर्थों में जीवन से जुड़े हुए हैं। मैं बाबूजी के साधारण परिवार का सीधे साक्षी नहीं, लेकिन जो बातें कह-सुनकर मेरी घुट्टी में दी गयीं, पिलायी गयीं वे सब बरबस मुझे सिद्धार्थ की कहानी से जोड़ देती हैं और जब भी बारहवीं मंजिल के तनिक से भी एकांत में खड़ा अपने को पाता हूं तो मुझे याद आता है सारनाथ, गया का वह बोधि-वृक्ष या सांची के स्तूप, जो मुझे मेरे अतीत से जोड़ते हैं।

मेरे हाथों में यह महंगा फाउंटेनपेन है, जिसकी छुअन मेरी अंगुलियों में सिरहन पैदा करती है। यहां स्टैथेस्कोप, डॉक्टरी आला होना चाहिए था और मैं ब-कलम खुद, इस बारहवीं मंजिल पर नहीं, किसी गांव की चौपाल में।

मेरा एक स्वप्न था। जिसे मैंने किशोर वय तक संजो रखा था। बड़ी लालसा थी कि मैं कभी डॉक्टर बनूंगा। बचपन से ही लोग मुझे डॉक्टर कहकर संबोधित करते, पुकारते थे और मैं एक छोटा-सा

होमियोपैथी का बक्सा लेकर निश्चित समय पर घर के लॉन या कमरे में जा विराजता। पास एक होमियोपैथी की किताब भी जुटा ली थी। इस तरह दवा बांटने का स्वांग रचता। लेकिन भाग्य, उसने मेरे साथ कितना बड़ा मजाक किया। स्वतंत्र भारत में जन्मा मैं अपने सारे सुनहरे सपनों को बाबूजी के निधन के साथ खो बैठा।

टूटे हुए सपनों के साथ अतीत में जीना कितना कठिन, कितना भयावह, कितना दुखद होता है ! अगर मैं अपने कलेजे को चीर उस पल की तस्वीर आपको दिखा सकूं, तो आपको मिलेंगे वहां टूटे, कटी-फटी नली वाले स्टैथेस्कोप, बिखरी हुई दवा की शीशी-बोतलें और फटे-चिथड़े उस डॉक्टरी की किताब के पन्ने, जो अभी भी हवा के थपेड़ों से जीवित मन के आंगन में फड़फड़ा रहे हैं।

सच मानिए बाबूजी का आकस्मिक निधन, और सारे परिवार के साथ हम सब, एक पल में भारत के अति साधारण परिवार में वापस लौट आये थे। देश के सिवा बाबूजी का अपना क्या था ? उन्होंने कभी अपने लिए कुछ नहीं किया। उनके न रहने के बाद मैंने अपने को उस सब के साथ जुड़ा पाया। निर्धनता और गरीबी से मैं 'थ्योरेटिकल' स्तर पर कल तक जी रहा था, पर आज वह बात मेरे घर की वास्तविकता बन उठी थी। समय ने मुझे यथार्थ के साथ जीने पर मजबूर कर दिया था। वह सच की मात्र परछाई नहीं, जीवन का कठोर सच था।

वह सच आज भी चुनौती की लाल झंडी लेकर कहीं मेरे मन में लहराता घूमता है और बरबस मेरे पैरों तले की जमीन खींच ली जाती है। मैं अपने को उस पल एकदम अनाथ, असहाय की स्थिति में पाता हूं। कितनी-कितनी घटनाएं, कैसे-कैसे दृश्य, मुझे भोगने-जीने पड़ते हैं, जैसे मैं चला जा रहा हूं सरकारी गाड़ी में और गाड़ी कहीं रुक गयी है। और भीड़ जै-जै कार के नारे लगा रही है, पर मेरी आंखें उस बालू के एक ढेर पर जा अटक जाती हैं जहां एक दुबला-पतला छोटा-सा बच्चा बालू पर लेटा अपने पेट और शरीर पर बालू उलीच रहा है। छाया में पड़ी बालू जरूर ठंडी होगी, पर उसका पेट ! उसके अंदर गरीबी और भूख की गर्मी ? मन प्रश्न करता है—वह क्या बालू की शीतलता से पेट की गर्मी को लुभाने का विफल प्रयास

कर रहा है ? मैं गाड़ी में पास बैठे एक साथी मित्र से उस दृश्य का जिक्र करता अपने मन के उस सिद्धार्थ को बांट कर जीने का असफल प्रयास करता हूं जो जबरन रोता-चिल्लाता अपने को छोड़कर चले गये और मैं बाबूजी से डॉक्टर वाले स्टैथेस्कोप की मांग कर रहा हूं। उन दवा की शीशियों और किताबों के लिए भटक कर जी रहा हूं जिन्हें मैं किसी भी तरह शक्ति भवन की इस बारहवीं मंजिल पर खड़ा कभी भी नहीं पा सकूंगा—मेरा सारा सकून, मुझसे छिन गया है, मैं वापस लौटकर वह सब पाना चाहता हूं जहां लोगों को आज भी दो और दो को छह कहने की भाषा नहीं आती।

मैं जिस स्तर पर लोगों से मिलना-जीना चाहता हूं, कितने कम गिने-चुने लोग मुझसे उस स्तर पर मिलते हैं। बल्कि कहीं इससे विपरीत वे जिस तरह मुझसे पेश आते हैं, मुझे शालीनतावश वह सब जीना पड़ता है जो मुझे कहीं बहुत गहरे काटता है, पर वक्त ऐसा है कि सही बात कहते कहीं अपने को कमजोर पाता हूं और सहारे के लिए हर पल मीरा खड़ी मिलती है, जो सहयोग दे, सही रास्ते पर ले जाती है—आप ऐसा क्यों सोचते हैं कि हर कोई जो भी आपके पास आता है अपने काम से ही आता है। यदि मित्रता सही है तो उसमें स्वार्थ खोजना गलत है। उस दिन देर रात उस मित्र परिवार के साथ घटा था जहां छोटे-छोटे बच्चे भी हम लोगों के इंतजार में बिना खाये-पिये उनींदे बैठे थे और जहां दस मिनट के लिए प्रण करके गया था वहां दो ढाई घंटे बिताने के बाद मन में आया था। इस सारे आपा-धापी के तूफान को, इस राजनीति के चक्कर को उतारकर एक तरफ रख दूं और राजनीति से त्याग लेकर कोशिश करूं अपने आपको पूर्ण रूप से समाज की सेवा करने के लिए।

कितनी-कितनी बार बाबूजी की कही बातें मुझे प्रेरणा देती हैं। लोग मुझे पलायनवादी कहेंगे। कहेंगे मैं भाग खड़ा हुआ हूं, लेकिन सच मानिए, मेरी बात की गहराई विरले ही कोई समझ पायेगा। शायद आप यह सब पढ़ते मुझे पूरे परिप्रेक्ष्य में यदि समझने की चेष्टा करें, तो बात दूसरी है, वरना आप भी मुझे 'रणछोड़' कहकर ही मेरी भावनाओं की इतिश्री कर डालने में देर क्यों करेंगे ?

मैंने गांधीजी को नहीं देखा है, पर उन्हें जानने-समझने की चेष्टा

की है थोड़ी-बहुत, और पाया है बिना गांधी बने, गांधीजी को समझ पाना कितना कठिन है ! आज बाबूजी होते तो पूछता—आज के संदर्भ में गांधीजी का धर्म क्या होता ? उससे शायद कोई सही रास्ता निकलता। पर वे नहीं हैं इसलिए राजनीतिक नेतृत्व से अलग हो गांव में लौटना और जनमानस की सेवा का संकल्प, उनकी खिदमत करने का साहस जुटाने में और कितना समय लगेगा—यह मेरा मन हर बार शक्ति भवन की बारहवीं मंजिल पर तनिक एकांत पाने की चुनौती कर बैठता है।

बाबूजी उस दिन अपने चुनाव क्षेत्र इलाहाबाद जनपद में आये थे और वे किस तरह द्रवित और विह्वल हो उठे थे, क्योंकि वे प्रधान-मंत्री थे और उनका चुनाव क्षेत्र इलाहाबाद का वह मांडा गांव पिछड़ा हुआ था। यहां तक कि पानी की सही व्यवस्था तक नहीं थी। लोग पानी खरीदकर पीते थे या कि यों कहें पानी तक बिकता था। वहां, ऐसे इलाके में उनका कार्यक्रम रखा गया। कार्यक्रम की समाप्ति के बाद उनसे लोगों की स्थिति देखी नहीं गयी और उन्होंने अम्मा से कहा—मैं एक दिन राजनीति से संन्यास ले अपने इस क्षेत्र में आ बसूंगा, यहां के लोगों की सेवा करूंगा…!

बाबूजी दूसरी बार लौट उस क्षेत्र में नहीं जा सके। उनका वह अधूरा सपना अम्मा को उस गांव, उस क्षेत्र में खींच लाया है और बाबूजी के निधन के नौ-दस महीने बाद अम्मा वहां लौटी हैं और 19 अक्तूबर 1966 को उन्होंने वहां 'लालबहादुर शास्त्री सेवा निकेतन' के नाम से मांडा में एक केंद्र स्थापित किया जिसका मुख्य उद्देश्य है—उस जन समुदाय की सेवा करना, उनके जीवन-स्तर को उठाना, उसमें परिवर्तन लाना, जिससे वे स्वावलंबी हो अपने पैरों पर खड़े हो सकें।

अम्मा के साथ उस केंद्र से जुड़कर मैं अपना दायित्व तो पूरा नहीं कर सका हूं। बाबूजी के चले जाने के बाद मैं वह सब नहीं कर सका जो मेरा मन चेता था—सपना था और की बैंक की अफसरी। वहां काम करते मन का असंतोष बढ़ता ही गया। मैंने कितनी-कितनी तरह से अपने को उस सबमें ढालने-खपाने की कोशिश की, पर नौकरी का सीमित दायरा मुझे कुछ और करने, बड़े क्षेत्र में जाने के

लिए लगातार प्रेरित करता रहा, उकसाता रहा, क्योंकि जहां भी जरा-सा अवसर मिला है मैं अपने को रोक नहीं सका हूं और बिना सोचे-समझे आंधी में कूद पड़ा हूं। चाहे वह मेरे मित्रों की परेशानी हो, परिवार की हो, देश की हो। मुझे याद आता है सक्रिय राजनीति में आने के लिए जब-तब मैं इंदिराजी से मिलता था और जहां वे मेरी भावनाओं को समझती थीं वहीं दूसरी ओर एक साधारण राजनैतिक की तरह मैं अपना प्रयास हर स्तर पर जारी रखे हुए था।

सुबह-सुबह उठता। उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी की अध्यक्षा उस समय मोहसिना किदवई जी थीं, उनके घर पहुंच, लॉन में जा खड़ा हो जाता, मिलने के लिए। कभी मेरा मिलना उनसे हो पाता, कभी नहीं। फिर दूसरे दिन की वही कोशिश। याद आता है एक नया बिरवा लगाने और उसे फलित होते देखने के लिए किसी माली को क्या-क्या नहीं करना पड़ता। कितनी-कितनी परेशानी नहीं झेलनी या उठानी पड़तीं। शुरू से 'अ' 'ब' प्रारंभ करना कठिन है। न जाने कितने चक्कर लगाये होंगे मैंने वयस्क राजनीतिज्ञों के घरों के, जो भी उस समय प्रभावशाली थे। आपसे सच क्या छिपाना, बताना चाहूंगा कि मुझे ऐसे भी अवसर मिले हैं जब कि कितने ही लोगों ने मुझे पहचानने से इनकार कर दिया। कितनों ने सवाल उठाये, पूछा— राजनीति से आप कहां जुड़े हुए हैं ?

उन्हें मैं कैसे बताता-समझाता कि राजनीति के वातावरण में मैं पैदा हुआ, बड़ा हुआ। जुड़ने का प्रश्न पैदा होने के बाद आता है। पैदा होने से पहले नहीं।

बाबूजी से धीरज रखने की जो शिक्षा मुझे मिली, वह मेरे सहारे आती रही। मुझे स्पष्ट मालूम था कि क्या करना या होना है। नौकरी करते, कठिनाइयां सहते, मैंने साहस नहीं छोड़ा। सन् 77 से 80 तक इंतजार करने की कोशिश की। समय बीता 80 से, फिर कहें— वही चप्पल घसीटने की प्रक्रिया जारी हो गयी और आप कह सकते हैं कि जो कुछ उस समय भोगा, किया, उसी का फल है कि आज मैं अपने साधारण-से-साधारण कार्यकर्ता के महत्त्व को, उसकी लगन और गरिमा को समझता हूं और उनके प्रति मेरे मन में गहरा सम्मान और श्रद्धा है !

मैंने बाबूजी के कामों को निकट से जानने की, समझने की कोशिश की है। उस समय तो नहीं मालूम था कि मैं डॉक्टर नहीं बनूंगा या बन पाऊंगा इसलिए पारखी आंखों से वह सब देखता-निहारता रहूं। नहीं, ऐसा नहीं था। बस एक अनोखी आतुरता। जानने-समझने की महती और बलवती इच्छा। जब भी अवसर मिलता मैं बाबूजी के साथ जुड़ जाता। अपनी खोजी बुद्धि के आधार पर घटनाओं के मतलब निकालने की कोशिश करता। कभी-कभी बाबूजी का व्यवहार समझ से परे हो जाता, तो झुंझलाहट आती ! बाबूजी मेरी तरह क्यों नहीं करते-सोचते। उनसे नाखुश होता प्रश्न करता। बाबूजी जवाब देते। वे जवाब मेरी आंखें खोल देते। वे एक ऐसे पहलू से दिये गये उत्तर होते जो मेरी समझ से परे होते और मेरी किशोर बुद्धि मात खा जाती। मेरे सामने एक नया आकाश खुल जाता। एक नया विस्तार ! एक नया आयाम !

जब मैं यह सब आपसे बता रहा हूं, मुझे वह सुबह याद आती है। उस दिन छुट्टी थी। बाबूजी हर दिन घर के लॉन में आये लोगों से मिलते थे। वे प्रधानमंत्री थे। मेरे जी में आया, उनके साथ लोगों को मिलने, देखने, सुनने का। बस साथ हो लिया। वे मुझे मेरे कामों में रोकते, टोकते नहीं थे, बल्कि अवसर मिलने पर उत्साहित ही करते थे। समझाते-बताते कभी-कभी मेरे बिना पूछे ही।

लॉन में उस पल हम दोनों साथ थे। लोग कम थे। हम लोगों को समय मिला। हम दोनों अकारण ही चहलकदमी करते, बातें करते, घूमते रहे। मैंने पाया, यह घूमना अकारण नहीं था। वहां एक जर्मन महिला फोटोग्राफर आयीं, जिन्होंने शायद समय लिया था या ले रखा था, बाबू जी के स्टिल चित्र उतारने का। वे बाबूजी को बहुत ही नेचुरल परिवेश में देखना, चित्र उतारना चाहती थीं। वे अपने काम में, कैमरे को जब-तब क्लिक करने में लगी थीं और हम दोनों अपने में मस्त बातें करने चहलकदमी करने में। काश, उस समय उनका अता-पता ले रखता तो उनके वे चित्र मेरे कितने काम आते। पर उस समय इतनी समझ कहां थी !

बाबूजी के साथ घूमता मैं रह-रहकर सचेत हो जाता। देखना चाहता था कैमरा कहां है ? मुझे क्या करना चाहिए ? था न किशोर

मन ! उस उत्कंठा से अपने को बचा नहीं पाया था। यह जानने की कोशिश कि मेरा हर कदम भव्य और शालीन हो। जर्मन महिला कभी पास कभी दूर, कभी आगे, कभी पीछे, हर ऐंगिल से कैमरा क्लिक करती रहीं। पचासों तरह से ली होंगी फोटो उन्होंने। हम दोनों बाप-बेटों ने चलते-चलते बातें करते कितनी तरह के पोज बदले होंगे जो सहज ही हो जाते हैं। कभी हम ठिठककर बातें कर रहे हैं और मैंने पाया बाबूजी की आंखें कहीं अतीत में खो बंध गयी हैं तो कभी हमारे हाथ बगल में झूलने-लहराने केबजाय आपस में पीछे बंध गये हैं। मैंने बाबूजी की नकल नहीं उतारी पर वह सब अनायास ही होता चला गया है। जैसा मैंने किया है उसी पल बाबूजी के हाथ भी तत्काल उसी जगह चले गये हैं। हम दोनों की एक-सी प्रक्रियाएं। काफी लोग आ गये इस बीच। बाबूजी उनसे बातें करने, उनकी परेशानियां सुनने, उनके जवाब देने में उलझ गये। जर्मन महिला औपचारिकता समाप्त कर चली गयीं। मैं बाबूजी के साथ जुड़ा रहा। इसी बीच एक उद्योगपति एवं गृहमंत्री गुलजारी लाल नन्दा मिलने आये—यह सूचना लेकर बाबूजी के निजी सचिव सहाय साहब आये।

सहाय साहब की बात सुन बाबूजी ने घड़ी की ओर देखा और कहा—कुछ समय और बाकी है मेरा जनता से मिलने का। वह पूरा हो जाये तब तक के लिए आप उन लोगों को दफ्तर की बैठक में बैठा लें।

सहाय साहब लौट गये।

तनिक देर बाद मैंने गाड़ियां जाने की आवाज सुनी और देखा दोनों उद्योगपति और गृहमंत्री अपनी-अपनी गाड़ी में चले जा रहे हैं। यह देख मन में कुछ परेशानी हुई। मैं लपका बाबूजी की तरफ और बताया उनसे—बाबूजी, गृहमंत्री चले गये हैं। वे जो उद्योगपति आये थे वह भी वापस लौट गये हैं आपसे बिना मिले, पता नहीं क्या बात होगी ?

बाबूजी ने कहा मैंने उनको कहलवा दिया है कि मुझे अभी कुछ और समय लगेगा इसलिए शायद वे चले गये होंगे।

मैंने आग्रह किया और जिद कर पूछा कि आप उनसे मिले क्यों नहीं ?

मेरे सवाल पर बाबूजी ने फिर घड़ी की ओर देखा और बोले—

केवल पांच मिनट बच गये हैं। इन पांच मिनटों तक और मैं इन लोगों से मिल लूं फिर तुमसे बात करता हूं।

मैं निराश हो एक पेड़ तले जा खड़ा हुआ। वहां बाबूजी का पांच मिनट तक इंतजार करता रहा।

पांच मिनट जब पूरा हो गया तब बाबूजी ने मुझे बुलाया और प्यार से पूछा, कहा—क्या आप नाराज हो गये हैं? आओ, हम बताते हैं कि हमने क्यों कहा कि अभी मुझे थोड़ा समय और लगेगा।

मैं अपलक उनकी ओर देख रहा था। वे मुझे ले लॉन में एक ओर चले और फिर ठिठककर उन्होंने इशारा किया एक पेड़ की तरफ। मैंने देखा, एक बूढ़ा वृद्ध व्यक्ति। उसकी ओर इशारा कर बाबूजी पूछ रहे थे—सुनील, तुम उसे जानते हो?

मैं कैसे जानता वह कौन है। मैं बोला—न, मैं तो नहीं जानता।

उन्होंने बताया—यह पर्वतीय क्षेत्र से आया है। बहुत गरीब परिवार का है। उसकी उम्र काफी हो चुकी है। वह यहां आया है। मालूम नहीं कितने दिनों से उसके परिवार में खाना बना होगा या नहीं? इसने जो कुछ पैसा बचाया होगा, उससे बस का टिकट, रेल का टिकट ले सुदूर दिल्ली पहुंचा है अपनी फरियाद लेकर, अपने प्रधानमंत्री को सुनाने।

बात सच हो सकती है। मैंने बाबूजी से सहमति प्रकट की। अभी मैं अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि उन्होंने एक और पेड़ के बीच बैठी महिला की ओर इशारा किया और कहा—इस महिला ने, जो कि दक्षिण भारत के दूर दराज गांव से आयी है, अपने जेवर गिरवी रखे होंगे या कि पैसे उधार लिये होंगे रेल-भाड़े के लिए और लाख परेशानियां झेल वह यहां तक पहुंची है अपनी दुख भरी कहानी अपने नेता को सुनाने।

मैंने इसे भी मंजूर किया और सहमति में सिर हिलाया। वे बोले—सुनील, तुम्हीं बताओ, मैं इनकी या आने वाले इन जैसों की बात नहीं सुनता और अपने गृहमंत्री से मिलने, इन सबको छोड़, चला जाता जो एक बार नहीं दस बार मेरे कार्यालय में आ सकते हैं और वह उद्योगपति, जिनका तुम जिक्र कर रहे हो, एक बार नहीं बीसियों बार बंबई से उड़कर दिल्ली पहुंच सकते हैं प्रधानमंत्री से मिलने, पर

ये लोग, तुम्हीं सोचो, जो भारत के दूर-दराज जगहों से एक बार आ वापस लौट जायें तो फिर कभी दुबारा आ सकते हैं ?

मैं अपने आप में खो गया। मैंने अपने आपको कितना छोटा महसूस किया उस पल बाबूजी के सामने। कद जरूर बहुत छोटा रहा बाबूजी का पर उनका व्यक्तित्व कितना बड़ा, कैसा विशाल था और मैं उस पल अपने आपको उनके सामने ऐसे महसूस कर रहा था जैसे हाथी के सामने चींटी। मेरे मन में गृहमंत्री या कि उद्योगपति का बड़प्पन तथा गरिमा और उन गरीब ग्रामीण की इकाई का फर्क, उनकी जरूरत, उनकी सहायता की महत्ता का अर्थ खुला था और मैंने बाबूजी को वचन दिया था—मैं इस तरह की सचाई से परिचित नहीं था। वादा करता हूं, कभी और दूसरा मौका आपको ऐसा नहीं दूंगा।

बात की गहराई को समझाने का अनोखा तरीका था बाबूजी का। क्या वे जानते थे कि मैं डॉक्टर नहीं बन पाऊंगा। और इसलिए अनकहे ही मुझसे बहुत-सी बातें कह जाया करते थे।

मुझे याद आती है पाकिस्तान की लड़ाई के दौरान की वह एक सुबह ! उस दिन मुंह-अंधेरे ही बाबूजी ने जगाया मुझे। बोले—जल्दी से तैयार हो जाइए। हम आपको घुमाने ले चल रहे हैं।

बाबूजी के साथ घूमने की लालसा तो मेरी घुट्टी में बसी है। देखा, अभी आसमान खिड़कियों के बाहर काला स्याह है। आलस त्याग, उठते हुए पूछा—सामान वगैरह रख लूं ?

बोले—नहीं, बस तैयार होकर आध घंटे के अंदर बाहर आइए।

मैं उस आध घंटे के पहले ही झट-पट तैयार हो बाहर हाजिर था।

अंधियारा अभी भी पूरी तरह छाया हुआ था। बाबूजी तैयार हो कर आ चुके थे। हम दोनों गाड़ी में जा बैठे। गाड़ी चला रहा था राजाराम—बाबूजी का विश्वसनीय ड्राइवर।

कुतूहल ! मन बल्लियों उछल रहा था। हम सैर को जा रहे हैं। सीधी सड़क छोड़कर हमारी गाड़ी पालम की तरफ बढ़ने लगी। मेरा दिल्ली की सड़कों का अंदाज बहुत अच्छा है। मैंने बाबूजी से कहा,

पूछा—अरे हम लोग तो हवाई अड्डे की तरफ चल रहे हैं और आपने तो हमसे कहा—सामान वगैरह न रखो ! क्या···?

मैं आगे अपनी बात पूरी कर पाता कि उन्होंने अपनी अंगुली होंठों पर रखी और इशारा किया चुप रहो !

यानी बाद में बताऊंगा।

हवाई अड्डे पर लेफ्टिनेंट जनरल और मेजर जनरल पहले ही से मौजूद थे। उन लोगों ने बाबूजी का स्वागत किया। मैं वह सब देख भौंचक्का।

भारतीय वायुसेना की जहाज, जहां तक मुझे याद आता है अगर मैं गलत नहीं, तो उस विमान का नाम 'पुष्पक' था, उसके निकट हम लोगों को ले जाया गया। अंदर पहुंच, बैठने के बाद बाबूजी ने कहा—हम तुम्हें पाकिस्तान घुमाने ले चल रहे हैं।

मेरा मन बल्लियों पर और अचरज आसमान छू रहा था। मैंने पीछे बैठे मेजर जनरल और लेफ्टिनेंट जनरल साहबों की ओर घूमकर देखा और पाया, वे लोग भी मुस्करा कर स्वीकार कर रहे हैं।

तनिक ही समय में वायुयान उड़ान भर आकाश में था। मैं अपने मन में घट रहे विचारों को आज भी याद करता हूं तो रोमांच हो आता है। किस तरह का अनुग्रह मन में बाबूजी के लिए भर आया था। मैं सचमुच आकाश में था, देश के प्रधानमंत्री के करीब, अपने बाबूजी के अति निकट। वैसी निकटता कितनी ही बार मिली है, पर वह कुछ अनोखी ही थी। उस दिन एक राजनेता ने पूछा था जब मैं लोगों के यहां भोर में हाजिरी बजाते, बैंक की नौकरी करते भागता फिर रहा था कि राजनीति से आप कहां जुड़े हैं ? तब उस पल जी में आया था उसका गिरेबान पकड़ मैं उसे अपना कलेजा चीरकर दिखाऊं और उसे अपने अंदर बोये नन्हें-नन्हें बिरवों, पेड़ों की आत्म-कथा सुनाऊं जिनके बीज बाबूजी, लालबहादुर शास्त्री ने रोपे थे, बोये थे पर उसे पूरी तरह पानी देने, सींचने से पूर्व, वे चले जा चुके थे। और उन्हीं के निर्देशों, आग्रहों और इशारे के बलबूते पर कितनी-कितनी बार खून के घूंट पी, मैं अपमानित हो, वापस लौट आया हूं, पर शुक्र है इस आत्मबोध ने, इस अपमान ने, मुझमें रियेक्शन के बीज नहीं पैदा किये। ईश्वर करे मेरा कोई भी काम प्रतिरोध के तहत न

हो। स्वस्थ और सुदृढ़ विचार ही मेरे अपने बनें। पर उस पल जब मैं आकाश में उड़ता पाकिस्तान की ओर जा रहा था, उस समय मेरे मन में कुछ और ही तरह के भाव थे।

हवाई जहाज नीचे उतरा। यह हलवारा का हवाई बेस था। यहां हमें बताया गया कि कैसे हमलावरों ने इस हवाई बेस को ध्वस्त करने की कोशिश की, लेकिन हमारे सैनिकों की चुस्त-दुरुस्ती के कारण वे सफल नहीं हो सके। हमारे जवानों ने इसकी भरपूर हिफाजत की और इसे पूरी खूबसूरती से बचाकर रखा। फल यह हुआ दुश्मन अपने इरादों में नाकामयाब रहा। उसे नजदीक आने में सफलता न मिली गोकि उनकी मार और गोली बारूद के निशान जहां-तहां आसपास की इमारतों पर दिखाई पड़ रहे थे। हमने उन सबको पास से देखा और वारदात का पूरा किस्सा सुना।

वहां से हम लोगों को बा-इज्जत सैनिक सम्मान के साथ ले जाया गया बरकी। यहां पुलिस स्टेशन पर तिरंगा लहरा रहा था। इस तिरंगे की शान को बरकरार रखने के लिए हमारे जवानों ने कितनी आहुतियां दी हैं। मेरा मन उस तिरंगे को सैल्यूट करता झुका। जाने क्यों मेरे मन में आया, मैं इस झंडे के नीचे पल भर रुक उन जवानों-शहीदों की आत्मा की शांति की प्रार्थना करूं जिन्होंने देश की शान और रक्षा के लिए अपने जीवन अर्पण किए हैं।

मैं अभी यह सोच ही रहा था कि हम एक तोप के पास खड़े थे। कई और तोपें आसपास थीं। जिनके बारे में हमें बताया गया कि ये तोपें लाहौर के रेडियो स्टेशन और उस शहर की दूसरी प्रभावशाली जगहों पर पूरी तरह से कंट्रोल रखे हुए हैं और आनन-फानन में आग उगल सकती हैं।

एक नवयुवक के मन की दशा का अंदाज लगाइए। क्या कुछ गुजर रहा था मेरे मन में। 15 साल की उम्र, मुझे तो उस समय यही लग रहा था कि मैं यह देखूं, यह जानूं कि पाकिस्तान के लोग कैसे रहते थे यहां। उनके घर, हाट, गलियारे और दुकान। पर सब कुछ ध्वस्त और अस्त-व्यस्त पड़ा था। चीजें बिखरी और कितने ही मकान बंद या अधखुले। वह बिखराव, वह बरबादी!

हम और आगे चले। देखा कई पैटन टैंक टूटे पड़े हैं और उन्हें

चलाने वाले आपाधापी में उन्हें जबरन छोड़ भाग गये हैं। भारतीय जवानों द्वारा नष्ट, अर्ध-भग्न हालत में पड़े पैटन टैंक !

हम देख ही रहे थे कि भारतीय सेना के वरिष्ठ अधिकारियों ने बाबूजी से आग्रह किया कि वे एक टैंक पर खड़े हों। उन्हें एक पर खड़ा कर फोटो लिये गये। आज भी कहीं-कहीं वह फोटो देखने को मिल जाता है और उसे देख मैं उस क्षण के साथ अपने को जीवित पाता हूं। कैसा अनोखा था बाबूजी का यह कहना—चलिए, हम आपको घुमाने ले चलते हैं।

मैंने बाबूजी को टैंक पर सवार देखा और जब उनकी फोटो खींची जा रही थी तो मैंने पास खड़े मेजर जनरल से पूछा—अंकल, क्या मैं टैंक पर नहीं जा सकता ? मेरे शरीर में अभी भी झुरझुरी आ गयी है। उन हाथों की गर्मी मैं अपने शरीर के हाथों के नीचे, बगल में महसूस कर रहा हूं जहां से उठाकर उन्होंने अपने हाथों से मुझे टैंक पर खड़ा कर दिया था।

उन लोगों के मना करने के बाद बाबूजी ने कहा—हम यहां से इच्छुकी कैनाल तक चलेंगे।

इच्छुकी कैनाल एक स्ट्रेटेजिक स्थल है। नहर के इस ओर है भारतीय सेना और दूसरी ओर पाकिस्तानी सेना। आमने-सामने तैनात। सैनिक अधिकारियों की दलील थी कि यह उचित नहीं होगा कि देश के प्रधानमंत्री वहां तक पहुंचें, क्योंकि खतरा है।

उत्तर में कहे गये बाबूजी के शब्द आज भी मेरे कानों में गूंजते हैं। बाबूजी ने कहा था कि एक नहीं, जाने कितने देश के बहादुर लाल ने अपनी जानें यहां कुर्बान कर दीं तो क्या ये मैं—मैं सिर्फ अपनी जान की सोचूं इस समय ! मैं उनके हौसले बुलंद करना चाहता हूं। मैं उनकी प्रशंसा करने यहां आया हूं।

उनके सामने अधिकारियों का सारा तर्क अर्थहीन था। वे नहीं माने और चले। मुझे साफ याद है एक नहीं, दो-चार-छह घेरे एक के बाद एक बनाये गये और उसके बीच बाबूजी धीरे-धीरे इच्छुकी कैनाल की तरफ बढ़े। दोनों बड़े जनरल बाबूजी के अगल-बगल इस तरह उन्हें घेरे चल रहे थे जैसे कोई पहाड़ चल रहा हो। देश के प्रधानमंत्री तक कोई, किसी भी तरह की आंच नहीं आ सकती।

अब यह मेरा बचपन कहिए या कुछ और उधर बाबूजी जवानों को संबोधित कर उनकी बहादुरी और वफादारी, दिलेरी की प्रशंसा कर रहे थे और मैं जिद कि मैं यहां आ बिना कैनाल का पानी पिए जाऊंगा ही नहीं।

मुझे मना किया गया, पर वह मेरा किशोर बालपन का हठ ही तो था। आखिरकार एक मेजर मुझे अपने साथ ले कैनाल तक चले। हम किनारे अभी पहुंचे-पहुंचे ही थे कि जो कुछ घटा, वह सारा एक ऐसी अनहोनी थी जो देखे गये स्वप्न की तरह मेरे मानस-पटल पर आज भी अंकित है और शायद जीवन के अंतिम पल तक वैसे ही जीवंत रहेगा। मैं पानी के नजदीक पहुंचा ही था और जल को हाथ लगाने वाला था कि दूसरे किनारे से कितने ही पाकिस्तानी जवान खड़े हो गये। मैं नहीं जानता था कि वे बंकर में है और इस फुर्ती से वह सब होगा और मेरे पानी छूते ही वह मेजर अंकल मुझे गोद में ले वापस हवा से कहीं अधिक फुर्ती से भागे क्योंकि दूसरी ओर से गोलियां चलने ही वाली थीं और बस वह मेजर अंकल का कमाल था कि वे मुझे ऊपर ले आये। आज भी वह पलायन, मेरे मानस-पटल पर भय के साथ चिपककर रह गया है।

बाबूजी का वहां का दौरा पूरा हो गया था। दिल्ली लौटने पर हम अस्पताल की तरफ, जहां हमारे घायल जवानों की देखभाल, दवा-दारू की जा रही थी, जाने लगे तो बाबूजी ने हमसे कहा—सुनील, वैसे तो हमारे जवान अपने देश की रक्षा करते हैं, पर यह लड़ाई दो सरकारों में है—दो लोगों में नहीं।

स्पष्ट था उनका इशारा भारतीय और पाकिस्तानी अवाम की तरफ था। उन्होंने आगे कहा—इसलिए मैंने अपने भारतीय जवानों को कह रखा है कि जहां तक संभव हो, जनता को इससे कम-से-कम कठिनाई हो।

मेरी तरह आप भी स्वीकार करेंगे कि शास्त्री जी में मानवता-वादी भावनाएं कूट-कूट कर भरी थीं। उनके शब्द उनके मन की अथक गहराई से पूरी सच्चाई और पूरी ईमानदारी से निकल रहे थे। जो वे कह रहे थे, उसमें राजनीतिकता रंचमात्र नहीं थी बल्कि वे जो महसूस कर रहे थे, वही उनकी जबान पर उस पल था।

बातें करते हुए हम मिलिट्री अस्पताल में आये जहां पड़े भारतीय जवानों ने असनी सेवाएं पूर्ण रूप से देश को अर्पित की हैं। यहां एक खाट के पास जा बाबूजी उनका हाथ अपने एक हाथ में लेते तथा अपना दूसरा हाथ उनके माथे पर रख उन्हें सांत्वना देते बातचीत करते, हालचाल पूछते।

काफी देर घूमने के बाद हम एक जगह पहुंचे जो जालियों से, नेट से ढंका था। अन्दर एक आफिसर उसमें लेटा था। बाबूजी के पहुंचते ही डॉक्टरों ने जाली हटाई और जहां तक मेरी याद है परिचय में बताया गया—मेजर भूपेंदर सिंह हैं।

मेजर भूपेंदर सिंह का सारा शरीर क्षत-विक्षत हुआ था। बुरी तरह से शेल उनके शरीर को बींध गये थे। और वे चिथड़े-चिथड़े हुए पड़े थे। उनके पास आ बाबूजी ने उसी प्यार से, स्नेह से उनका हाथ एक हाथ में ले, दूसरे से उनका माथा छुआ। माथे पर उनका हाथ आते ही मेजर की आंखों में आंसू भर आये।

मैं इस दृश्य को देख नहीं पा रहा था, क्योंकि बुरी तरह से घायल थे मेजर।

मेजर साहब की आंखों में आंसू देख बाबूजी ने प्रश्न किया और जानना चाहा—आप तो भारतीय सेना के मेजर हैं, उस भारतीय सेना के जिसका नाम और रुतबा विश्व में है, जिसे उच्चतम सैनिक ताकतों में गिना जाता है। आपकी आंखों में आंसू देख मुझे कष्ट हो रहा है।

इसके उत्तर में जिस तरह का जवाब मेजर ने दिया, वह शायद ठीक उन्हीं शब्दों में मैं उसे आपके लिए न दोहरा पाऊं पर उसका आशय कुछ इस तरह था—सर, मैं भारतीय सेना का मेजर हूं, उस भारतीय सेना का जिसका विश्व में उच्चतम स्थान है। मेरी आंखों में आंसू इसलिए नहीं है कि मौत मेरे नजदीक है या कि मैं कुछ दिनों का मेहमान हूं। आंसू मेरे इसलिए आ गये हैं कि भारतीय सेना का मेजर होते हुए भी आज मेरे प्रधानमंत्री मेरे सामने खड़े हैं पर मैं इस योग्य नहीं कि खड़े होकर उन्हें सैल्यूट कर सकूं।

उस पल बाबूजी की भी आंखें भर आयी थीं और मैंने जीवन में पहली बार उनकी आंखों में आंसू देखे। मैं अब और नहीं सह सकता था। उन दोनों को वहीं छोड़कर मैं वहां से अलग हट गया।

कहीं और जा अपने को छिपाने की जगह नहीं थी। बस पास में खड़ी गाड़ी दिखी। मैं उसमें जा बैठ गया और सोचने लगा, मैं क्या करूं ?

तन-बदन में आग-सी लगो थी। मैंने पंखा खोल लिया था और घायल मेजर को देख, उनकी और बाबूजी की आंखों में आंसू देख मेरी आंखों तले युद्ध के जाने-माने कितने दृश्य घूमने लगे थे।

थोड़ी देर बाद बाबूजी मेरे पास आये। आते ही उन्होंने पूछा—तुम चले क्यों आये ?

क्या जवाब देता ! मेरे लिए बताने को क्या रह गया था ! मुझे बहुत तकलीफ हो रही है। बाबूजी ने मेरी मन:स्थिति भांप ली थी।

बाबूजी आगे बढ़े। पंखा बंद करते बोले—अरे, यह पंखा किसने चलाया ?

मेरा उत्तर था—मैंने !

वे बोले—तुमने देखा नहीं कि एक भी जवान के पास यहां पंखा नहीं है। वे सब इस असह्य गर्मी में कैसे कष्ट से लेटे हुए हैं और तुम्हें फिर भी पंखा चलाने की बात मन में आयी ?

मेरी हिम्मत ही नहीं पड़ी कि बाबूजी की तरफ मुंह उठाकर देखूं। मैं उनकी आंखों से परिचित हूं। मैं जानता हूं वे किस आशा और अभिलाषा से मेरी ओर देख रहे होंगे।

आज मुझे उनका वह उस तरह से देखना, आंखों से बातें करना किस कदर याद आता है।

आज होली है।

पिछली दो होली पर अम्मा मेरे साथ रहीं। वैसे रहती वे दिल्ली में हैं, पर त्यौहार पर कभी-कभार मेरे पास आ जाती हैं। अम्मा के होने से मेरा सूनापन कम हो गया है। बाबूजी की कमी, कम खली है। फिर भी वे आज बराबर याद आते रहे हैं।

मैं चुप बैठा हूं। मेजर भूपेंदर सिंह याद आते हैं। कभी होली पर ऐसी गर्मी लखनऊ में नहीं पड़ती, पर इस आज के दिन है और मीरा पंखा चला गयी हैं। मैंने उठ खड़े हो, पंखा बन्द कर दिया है।

तब तक मीरा फिर आयी हैं कहते हुए कि इतनी गर्मी है आपने

फिर पंखा बंद कर दिया, और उन्होंने फिर पंखा चला दिया।

मेरे मन में भूपेंदर सिंह की याद ताजा हो आई है। मैं बरबस चाहते हुए कि पंखा न चले, मैं उठकर उसे बंद नहीं कर सका। आज के दिन मन का बोझ मैं मीरा के ऊपर नहीं डालना चाहता। चुप अपलक मीरा को जाते देख रहा हूं। मीरा चली गयी हैं। उस दूसरे कमरे में मीरा बच्चों के साथ उलझी हैं और उनकी आवाज रह-रहकर मुझ तक आ रही है।

हम लखनऊ में हैं।

लखनऊ में होने के साथ कितनी और बातें मुझे अपने आपमें लपेट रही हैं। यहां मेरा घर था। उस समय बाबूजी पुलिसमंत्री थे। वह घर उस जगह था जहां आज विधान सभा सनेक्जी की इमारत बनी है और ऊर्जा मंत्री के रूप में उस इमारत में मेरा कार्यालय है।

भागते हुए समझने की गाथा भी अजीब है। कैसे-कैसे पल उन स्मृतियों के साथ जुड़े हैं। वह जगह जहां सप्रेक्सी में मेरा आफिस है वहां बाबूजी के मकान का बमामदा था और उसमें हम खेला करते थे।

शायद तब मैं एक साल के लगभग रहा होऊंगा। मुझे उस बात की याद नहीं, पर अम्मा बताती हैं कि बाबूजी को आफिस में देर हो जाया करती थी और एक दिन मैं बाबूजी के इंतजार में जागता रहा और जब वे आये तो उनकी धोती पकड़कर खड़ा हो गया और फिर जाने किस तरह उन्हें ऊपर की मंजिल पर बरामदे में ले गया और वहां से अंगुली उठा उस तरफ इशारा किया जहां फाटक पर संतरी खड़ा था।

अम्मा कहती हैं—हम लोगों ने इसका मतलब निकाला कि आप देर से आयेंगे तो आपको उस पुलिस से पकड़वा दूंगा।

अम्मा आगे कहती हैं कि इस बात का जिक्र बाबूजी ने कहीं अपने सहयोगियों से कर दिया होगा—अनायास ही और अखबार वाले उसे ले उड़े।

एक दिन एक अखबार में इस शीर्षक से समाचार छपा—पुलिसमंत्री को पुलिस से पकड़वाने को बेटे द्वारा धमकी।

जाने कैसे पुलिस सिपाही और सैनिक मेरे मन में गड्डमड्ड हो उठे हैं

और मेरे बच्चों की आवाजें मुझे अपने अतीत में खींच लायी हैं और फिर मीरा किसी काम से आई हैं और टोक बैठी हैं—क्या गुमसुम से अकेले बैठे हंस रहे हैं। मैं चाह कर भी उन्हें कुछ नहीं कह पाता। वे अपने आपसे कुछ कहती बाहर चली जाती हैं।

मैं चुप उनका जाना देखते बैठा रह जाता हूं।

एक तरफ से विभोर खेलता-कूदता आया है और उसके हाथ और मुंह में गुझिया भरी हैं। उसने मेरे मुंह में भी गुझिया ठूंस दी हैं। खिलंदड़ा लड़का। मैं उसे इनकार नहीं कर सका हूं।

गुझिया मुझे भी पसंद हैं।

पिछले साल और इस साल दोनों ही साल ढेरों गुझियां, ढेरों मठरियां, नमकीन और पकवान अम्मा ने अपनी अस्वस्थता के बावजूद बनाये हैं।

मैं पिछले दिनों अधिकांश दौरे पर रहा हूं। लौटते ही अम्मा ने बताया कि जैसे ही मैं गुझिया बनाने बैठी तो विभोर आ सामने खड़ा हो गया और कहने लगा—आज से हम कुछ और नहीं खायेंगे, बस गुझिया ही खाते रहेंगे!

अवसर पा मैंने विभोर को पकड़ा, पूछा। वह बोला—दादी अम्मा बनाती हैं इतना अच्छा पकवान कि कुछ और खाने का मन ही नहीं करता। मुझे तो बस गुझिया ही पसंद है। वही अच्छी लगती है। वही खायेंगे।

मैं उसके चेहरे, उसके बाल स्वभाव, उसके हाव-भाव में अपनी झलक चमकते देखता शरमा जाता हूं। इससे कम बंबड़दास मैं नहीं था।

मेरे मुंह में अभी भी गुझिया का स्वाद उठता चला आया है। विभोर मेरे गले से लिपट गया है, वह कहते—पापा, आगे जब भी जितनी होली आये फिर तो दादी मां को यहां जरूर बुलवा लिया कीजिए।

मैंने कहा—लालची, केवल गुझिया के लिए?

वह किस तरह लजा-शरमा कर अपनी बांहें मेरे गले से उतार भाग खड़ा हुआ है।

उसे दौड़-भागता देख मैं भी अपने मन के आंगन में भटकता उस ठौर तक चला आया हूं जब एक ऐसे ही समय में मैं बाबूजी के साथ था। वैसे बाबूजी के साथ कितनी ही होलियों की याद ताजा है, जब देश के कितने ही नेता और जाने-माने लोग मेरे घर आते थे और उस समय हफ्तों पहले से ही घर में होली के पकवान बनते थे।

कितना अच्छा लगता है रंग-गुलाल से लोगों का चेहरा भरना। गीली होली मुझे कम पसंद है। घर आये लोगों को मैंने भी अबीर-गुलाल से भर दिया है। जवाब में उन लोगों ने भी मेरा मुंह रंगा है। मिलने वालों में, आये लोगों में हमारे कुछ चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी भी हैं। आकर उन्होंने गुलाल नहीं लगाया, शायद कहीं उन्होंने अपने को कमजोर पाया इसलिए झुककर केवल आशीर्वाद मांगा। मैंने झुकते-झुकते उन्हें उठाकर उनके मुंह पर गुलाल मलते हुए कहा—आज गले मिला जाता है, भई! और उनके सामने गुलाल की तश्तरी बढ़ा दी। जवाब में उन्होंने भी मेरे मुंह पर गुलाल मला और मैं उनसे गले भी मिला।

इस तरह मेरे साथ गले मिलने की कल्पना शायद उन्होंने नहीं की थी। मुझे अपना सुख हर छोटे-बड़े के साथ बांटने में जो आनंद मिलता है, उसे क्या कागज पर उतारा जा सकता है। उस सुख के बीज, जब मैं 12-13 साल का था, तभी मेरे मन के आंगन में लगा दिये गये थे। बाबूजी गृहमंत्री थे। घर पर मोटरों का तांता। दोपहर होते-होते सारा लॉन गुलाल से भर उठा था।

मेरी तो बात ही मत पूछिए कि इसी बीच बाबूजी ने मुझे बुलाकर कहा—ये बंबड़दास, उधर वहां गेट के पास देखना कौन खड़ा है। जाओ, उसे बुला लाओ।

भागा हुआ मैं गेट तक गया। पाया, अरे यह तो अपना कंछी का पिता है! उसे बुला मैं बाबूजी के पास ले आया। उसकी मुट्ठियां बंद थीं और उसने अपने दोनों हाथ पीछे छिपा रखे थे।

बाबूजी के पास आ उसने हाथ उनके पैरों तक ले जाकर मुट्ठियां खोल देनी चाहीं, जिनमें गुलाल भरा था।

बाबूजी को समझते देर न लगी—वह गुलाल अर्पित करना चाहता है। उन्होंने उसके झुकते-झुकते ही उसे उठा गले से लगा लिया यह कहते —आज का दिन गले मिलने का है और भई, गुलाल मुंह पर लगाया

जाता है, पैरों पर नहीं ।

हाथ बढ़ा बाबूजी ने तश्तरी से गुलाल उठाया और उसके चेहरे पर मल डाला । जवाब में उसने भी बाबूजी के चेहरे पर गुलाल लगाये ।

बाद में उसके चले जाने पर बाबूजी ने कहा था—अगर मेरा बस चले तो मैं सारे साल होली मनाता रहूं ।

मैं चकित उनकी ओर देखता रह गया था । और बाबूजी ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए बताया कि होली बराबरी का त्यौहार है । समाज में यह जबरन जो ऊंच-नीच बो दी गयी है, होली इसे समाप्त करती है। आज के दिन कोई भी छोटा-बड़ा नहीं रह जाता । काश, ऐसा एक दिन न होकर हमारे जीवन में हमेशा के लिए हो जाये, तो कितना अच्छा लगे ।

अपने देश में इस बात की कल्पना की जा सकती है, क्या मेरी कोशिशों से यह संभव हो सकता है ? यह सवाल कितने अरसे से तंग करता रहा है । हम बहुत बड़ी अच्छाई का काम एकबारगी नहीं कर सकते, लेकिन प्रतिदिन जरा-जरा अच्छा काम करते रहने से वह एकत्र होकर बड़े अच्छे काम में परिवर्तित हो जाता है ।

मैं कुछ अच्छा कर सकूं, इस बात की प्रतिज्ञा लेकर मैं बाबूजी की समाधि से चला था अपना नामांकन पत्र दाखिल करने गोरखपुर में ।

यह सारा कुछ इतनी शीघ्रता में हुआ कि मैं खुलकर मीरा से इसके बारे में बात भी नहीं कर सका था । मैंने मान लिया था कि जो कुछ मैं कर रहा हूं उसमें हम दोनों की भलाई है और मीरा की पूर्ण स्वीकृति । अब जबकि हम दिल्ली से चल पड़े थे और मेरे सामने नया जीवन, उसकी चुनौतियां प्रश्नचिह्न बनकर आ खड़ी हुई थीं और मैंने गाड़ी चलाते-चलाते मीरा से पूछा—तुम्हें अच्छा लग रहा है ?

गाड़ी की खिड़कियां खुली थीं । मीरा को नींद आ रही थी ।

अचानक मेरे किये गये इस सवाल से मुझे लगा, वह एक बार चौकन्नी हो उठी है। उसकी प्रतिक्रिया ने मुझे सोचने पर मजबूर कर दिया—क्या मैंनें कुछ गलत कह दिया था कि मेरे प्रश्न का अवसर गलत था !

कुछ न बोलते पा, मैंने फिर से बात दोहराई—सच-सच

बताओ, मीरा ! तुम्हें कैसा लग रहा है ? तुम्हारा पति अब राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए चुनाव लड़ने जा रहा है । एक नयी तरह के जीवन की ओर बढ़ रहा है ।

मैं जानता था, मीरा अगर और देर तक चुप रही तो मैं अपने को रोक नहीं सकूंगा, बस बोलता ही जाऊंगा और मेरी बात लंबी होती चली जायेगी । बोलने की इस तरह की आदत जाने कब से मेरे कंठ में बस गयी है । मैंने स्टेयरिंग संभालते हुए मीरा की ओर देखा और उसे चुप पा आगे कुछ कहने ही वाला था कि उसने अपना हाथ बढ़ा अपनी तर्जनी मेरे होंठों पर रख दी और उसने केवल इतना ही कहा—आप जिस भी रास्ते पर चलेंगे, मैं आपके साथ ही चलूंगी, लेकिन इतना मैं जरूर कहूंगी कि वैसे मैंने कभी भी बाबूजी को नहीं देखा । वे हमारी शादी से बहुत पहले हमसे विदा हो चुके थे । आप से और घर के सभी लोगों से जो कुछ मैंने उनके बारे में सुना है, उस सब को ध्यान में रखते हुए आप इस बात की कोशिश जरूर करेंगे हमेशा कि बाबूजी के नाम पर कोई अंगुली न उठाए ।

मैं मीरा की तरफ देखता रह गया । समझ में नहीं आया कि उसे किस तरह समझाऊं कि जिस रफ्तार से समय चल-बदल रहा है, उन बदली हुई परिस्थितियों में और बाबूजी के जमाने में कितना अंतर आ चुका है । आज की राजनीति वह राजनीति नहीं रही जो बाबूजी के समय थी । फिर भी मैंने मीरा की हथेली अपने हाथ में ले गाड़ी चलाते-चलाते मीरा से वादा किया और जिस बात को मैं आजीवन कभी किसी के सामने नहीं खोलना चाहता था, मजबूरन वह सब मीरा को बता गया ।

मैंने कहा—तुम विश्वास नहीं मानोगी, जब हम दिल्ली से चले और बाबूजी की समाधि पर गये, तुम बगल में थीं और मैंने बाबूजी से आशीर्वाद मांगा । उसके साथ-साथ वहां खड़े होकर मैंने एक प्रतिज्ञा ली, संकल्प किया—आपके आशीर्वाद से मैं राजनीति में प्रवेश करने जा रहा हूं, यदि मैंने अपने कामों से आपके नाम के साथ अपने को न जोड़ सका, उसे ऊंचा नहीं उठा सका, यदि मेरी वजह से आपके लिए कोई बदनामी की बात आयी, तो मैं अपने आपको आपके पुत्र कहलाने लायक नहीं समझूंगा ।

मेरे विचार इस तरह गड्डमड्ड हो रहे थे उस पल कि मैं अपने को स्पष्ट नहीं कर पा रहा था।

मीरा से अपने को बांटते मन को हल्का करते घड़ी की ओर निगाह डाली—वह सवा एक बजा रही थी।

लखनऊ अभी भी दूर था।

मीरा पर भी मेरे प्रति मोह छा उठा था। उसने बातें करते-करते पूरी शालीनता के साथ पुनः अपनी हथेली मेरी हथेली पर रखी और कसकर दबाते हुए कहा—मैं आपको अच्छी तरह से जानती हूं पर फिर भी मैं जानना चाहती थी कि मैं आपने अपने इस नये जीवन की शुरुआत के पूर्व क्या-क्या सोचा ?

मैंने आगे जोड़ा—मुझे पूरा विश्वास है और था कि मैं जहां भी, जैसे भी रहूंगा तुम सहर्ष, सर्वदा मेरा साथ दोगी, कैसी भी कठिनाई हो मेरे साथ, उसका सामना करोगी। यह सब जानते हुए मैंने फिर भी तुमसे पूछा कि तुम्हें कैसा लग रहा है—यह केवल औपचारिकता नहीं, बस मन बांटकर जीने की बात है।

मैं जानता हूं मीरा ने आज तक एक ऐसी ही जिन्दगी देखी है जो राजनीति से कोसों दूर की है। उसके पिता सुबह आफिस जाते और शाम को घर वापस। मैं भी जब बैंक की नौकरी में था, तो मेरा भी बंधा-बंधाया जीवन था। सुबह जाना शाम को वापस आ जाना। कभी-कभी दोपहर को खाने के लिए भी घर आ जाता था।

पर अब जिंदगी कैसी बंट गयी है। सारी आदत के बदल जाने के बाद आज भी शाम को वापस न लौट पाने की मेरी कमी उसे खलती है।

उस दिन गाड़ी में बातें करते मैं यह भूल गया था कि मीरा ने शास्त्री जी को स्वसुर के रूप में चाहे न देखा हो, पर उसने हमेशा ही स्वसुर के रूप में पाया है। उसने अपने आपको उनकी बहू की श्रेणी में समझा और उसी के अनुरूप गरिमा के साथ व्यवहार भी किया। बातें करते-करते उसने अपने बचपन का जिक्र किया और कहा—जानते हैं, तब मैं बहुत छोटी थी और बाबूजी प्रधानमंत्री थे और जयपुर आये थे। मैंने उनके आगमन की बात सुनी और उन्हें देखने की इच्छा मन में जागी। बिना किसी को बताये मैं उस जगह गयी जहां से वे गुजरने

वाले थे। जाने क्यों उस समय ऐसा लगा था कि वे अपने ही हैं। वे सामने से निकले, मैं खड़ी थी। गाड़ी उनकी पास आयी, मैंने हाथ हिलाया। लगा उन्होंने भी मेरी ओर देख प्रति-उत्तर में हाथ हिलाया। मुझे तब स्पष्ट लगा था जैसे उन्होंने मेरे अभिवादन का जवाब दिया है।

हमारा विवाह 1973 में हुआ पर यह घटना मुझे गाड़ी में चलते मीरा 1980 में बता रही थीं। जैसे वह सब कुछ कहने का मौका अभी आया हो। सात साल तक उसने आवश्यक नहीं समझा कि वह अपने स्वसुर की उपस्थिति मुझसे बांटकर जी सके। हमने कितनी ही तरह की बातें की होंगी उन सात सालों में पर आज गाड़ी में चलते नये जीवन के आरंभ में उसका वह कहना—लगा, वह मेरे निर्णय से खुश है।

चुनाव हुआ, परिणाम आये और हमारा जीवन एक नये धरातल पर चलने लगा। मेरी भागदौड़ और जन-जीवन के जुड़ने से एक ही बात उसे परेशान करती है और वह कहती है, आप दौरे का चाहे जैसा भी कार्यक्रम बनाइए, जहां चाहे वहां जाइए, पर शाम को लौटकर घर जरूर आ जाइए। जब आप चार-पांच दिनों तक लगातार बाहर रहते हैं तो घर का वातावरण काटने-काटने को हो जाता है। घर के माहौल में कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

कैसे बताऊं मेरे लिए बंधा-बंधाया जीवन संभव अब नहीं रह गया है। कई बार चाहते हुए भी पूरी कोशिश के बाद भी कई-कई शामें घर से बाहर रह जाना पड़ता है।

मैं इस कथा से पूरी तरह परिचित ही, नहीं भुक्त-भोगी हूं। हम लोगों को बाबूजी से एक पिता का प्यार, जैसा चाहिए, वह नहीं मिल पाया। बाबूजी से मैं गुस्सा होता था। शिकायत करता था और आज जब मैं खुद कई-कई दिनों बाद घर आता हूं और सोये पड़े अपने बच्चों को देखता हूं तो मेरे मन में सवाल उठता है—क्या ये भी मेरे बारे में उसी तरह नहीं सोचते होंगे, जैसे मैं अपने बाबूजी के बारे में सोचता था—कैसे पिता हैं कि…!

बाबूजी अनुभवी और ज्यादा दुनिया देखे थे, मैं उनके सामने कितना कम जानता-समझता हूं। उन्होंने कभी जोर से, बिगड़कर गुस्सा

हो डांट-फटकार कर कोई बात हम भाई-बहनों से कभी नहीं की, उनका बताने, समझाने और काम करने का तरीका ही दूसरा था। मैं तो उतावला, जल्दबाज और गुस्सैल व्यक्ति हूं। मुझमें वह धीरज है ही नहीं जो बाबूजी में था। बहुत कोशिश करके मैं उस तरह का धीरज अपने में पैदा ही नहीं कर पाया आज तक।

बात उस समय की है जब मुझे टिकट मिल गया और बैंक की नौकरी से इस्तीफा देने की बात आयी। इस पल जिस तरह से, जिस ढंग की परिस्थितियों से दो-चार होना पड़ा, उसमें बाबूजी का वह धीरज ही काम आया। अगर वह सहारे न आता तो जाने कितनी ही लड़ाइयां मैं मोल ले बैठता। बैंक की नौकरी करते कितनी ही तरह के अवाजे-तवाजे सुनने को मिलते ही रहे हैं। लोगों को यह अंदाज ही नहीं था कि यह साधारण-सा व्यक्ति कभी टिकट पा, चुनाव भी लड़ सकता है। पर मेरी धीरे-धीरे यह मान्यता बन गयी थी कि आपके हमारे जीवन में जो भी बातें अवतरित होती या घटती हैं उनके गहरे अर्थ होते हैं।

काश, मुझे बैंक की नौकरी न मिली होती, तो मैं उन सारे अनुभवों से वंचित रह गया होता, जो एक औसत व्यक्ति के जीवन में व्याप्त होते हैं। अनुभव प्रेरणा के मूल हैं जो जीवन को भविष्य में ज्यादा प्रखर, ज्यादा रंगीन, ज्यादा मधुमय बनाते हैं।

मैंने छोटा-सा इस्तीफे का पत्र लिखा और कार्यालय में जा अपने वरिष्ठतम अधिकारी को सौंपा। मैं उनके कमरे में था। पाया, वे भी मेरे साथ-साथ मेरी ही तरह काफी भावुक हो उठे हैं। मुझे लगा भावुकता का भी जीवन में काफी महत्त्व है। भावुकता तथा निष्ठा से ही लोगों ने देश की आजादी के आंदोलन में भाग लिया और सैनिक की भावना से ही लड़ते रहे।

वरिष्ठ अधिकारी भावुक हो अपनी कुर्सी से उठे और चलकर मेरे निकट आये। ऐसा उन्होंने मेरे सामने कभी नहीं किया था। उनके साथ पिछली कितनी ही मुलाकातों की याद ताजा है जब वे अफसर थे और मैं साधारण अधिकारी बैंक का। मैं उनके इस व्यवहार-परिवर्तन की आशा नहीं करता था। उन्होंने स्नेह भरा आशीर्वाद दिया और कामना की कि मैं सफलता की ओर बढ़ूं। उनके मन में बाबूजी के प्रति

श्रद्धा थी और वे कह रहे थे कि शास्त्री जी के छोड़े अधूरे कामों को, सुनील, तुम्हें ही पूरा करना होगा !

वापस जब मैं अपने साथियों के बीच पहुंचा तो उन्हें मेरे उठाये कदम का आभास मिल गया था। जहां आप काम करते हैं, दिन के एक लंबे हिस्से में जब लोगों के साथ उठते-बैठते हैं, उन सब के बीच किननी ही अलग-अलग तरह की बातें होती-घटती हैं। कोई आपके बहुत पास होता है तो कोई आप से काफी दूर। कुछ लोगों को मेरे राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने पर हर्ष हो रहा था कि उनके बीच का अपना कोई आगे जा रहा है और वे कभी कह सकेंगे कि भाई, ये तो हमारे अपने ही हैं। किन्हीं औरों को दुख भी था कि हमारा आपका रास्ता अलग-अलग बंट रहा है, अब आप से हम बिछुड़ रहे हैं। तरह-तरह की भावुकता देखने को मिली।

इस सबके साथ मुझे यह भी पूरी तरह से एहसास था कि कई ऐसे भी हैं, जिन्होंने फब्बितयां कसी होंगी, चुटकियां ली होंगी। वे सारी बातें मेरे सामने वह सब नहीं कह सके होंगे पर पीठ-पीछे तो कह ही रहे थे—अजी देखा ! लगी-लगाई नौकरी छोड़कर जा रहे हैं। यहां तो सफल हुए नहीं, राजनीति में जबरन टांग अड़ाने जा रहे है, वहां जब असफलता सिरमौर बनेगी तब पता चलेगा !

कुछ लोगों की कही बातों ने मेरे मन में आक्रोश भी पैदा कर दिया, पर वह समय नहीं था उलटकर कुछ कहने का। मैं अपना गुस्सा पी गया और आज वह इतने अरसे बाद सारा भूल गया है। एक ही यह टिप्पणी कि सफलता के नजदीक शायद ही मैं पहुंचू···मैं लगी-लगाई नौकरी से हाथ धो रहा हूं, ने मुझे उत्साहित जरूर किया कि किसी भी तरह अपनी पूरी कोशिश कर सफल जरूर होना है।

एक सहयोगी जो वास्तव में बहुत निकट थे, उन्हें मैंने इस्तीफा देने से पहले दिखाया था और उन्होने उस पत्र को हाथ में ले, दो मिनट मेरी आंखों में झांका था कि ऐसा मुझे लगा उन्होंने गंभीरता से मेरी आंखों में झांका और कहने लगे—कच्ची गृहस्थी है ! एक बार फिर से सोच लो। अभी यह सब करने के लिए बहुत लंबी उम्र बाकी है। पर भावुक मन का दृढ़ निश्चय। मुझे स्पष्ट याद है, मैं उन्हें आफिस के

बाहर ले आया था, क्योंकि आफिस में वे सारी बातें संभव नहीं हो सकती थीं।

बाहर फलों की हरी चाटवाला खोमचा ठेले पर लगाता था और उस दिन जेब में थे केवल चार-पांच रुपये। कहीं किसी रेस्तरां में जा बैठ नहीं सकता था। उस ठेले वाले से दो पत्ते बनवाये और चाट खाते-खाते अपने मन की गांठ को खोलता रहा। अपना मत उनके सामने रखता रहा। ऐसी बातें उनसे एक बार नही पहले भी टुकड़ों-टुकड़ों में कितनी ही बार हुई हैं। अंत में उन्हें भी मेरा फैसला स्वीकार करना पड़ा।

वैसे 1977 में ही सक्रिय राजनीति में आने के लिए मैं आतुर हो उठा था। उस समय और छोटा था। इन्दिराजी और संजय गांधी से मिला और लोकसभा के लिए टिकिट की इच्छा जाहिर की थी। अवसर आया। इन्दिराजी ने बुलाकर मुझे आदेश दिया कि तुम जाकर कांग्रेस अध्यक्ष देवकांत वरुआ जी से मिल लो।

उस दिन, उस समय वे घर के पीछे लॉन में अकेले टहल रहे थे, मैंने नमस्ते की। वे बातें करते रहे। फिर बोले—इलाहाबाद, जो कि बाबूजी का चुनाव क्षेत्र रहा है और जहां से सन् 1967 में हरि भैया चुनाव लड़ चुके हैं वहां से इस बार तुम्हें चुनाव के लिए नामांकन पत्र भरना है। मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने आगे कहा—प्रचार-प्रसार का सारा सामान गाड़ियां वगैरह सभी तुम्हारे लिए तैयार हैं। तुम नामांकन पत्र भरकर चुनाव की तैयारी करो।

विश्वास कीजिए 27 साल की आयु। मुंह खोलते ही लड्डू मिले। एक तूफान-सा उमड़ पड़ा मेरे मन के आंगन में। शायद उस पल जिस तरह की खुशी का एहसास हुआ वैसा आगे कभी नहीं हुआ था, यहां तक कि जब 1980 में टिकिट मिला तब भी नहीं।

उस समय इन्दिराजी ने मुझे बुलवाया था और जो बातें मैं 1967-71 से कहता आ रहा था उसकी यह इतिश्री थी वैसे सन् 1980 में आदेश तो उनका ही था पर उसके लिए मुझे चप्पलें रगड़नी पड़ी थीं। भागदौड़ करनी पड़ी थी। वह सन् 80 का अवसर मेरी मांग पर मुझे मिला था—इसलिए आज 1980 और 1977 की बात में बड़ा फर्क था।

देवकांत बरुआजी से मिल मैं इन्दिराजी के पास गया और घर

आया। मेरी अम्मा ने मुझसे कहा—बेटे, तुम बहुत जल्दी कर रहे हो राजनीति में आने के लिए।

और मेरा छोटा-सा उत्तर—आज नहीं तो कल—बाबूजी के छोड़े अधूरे कामों को हम लोगों को ही पूरा करना है। इसमें जल्दी या कि देर की बात कहां उठती है—काल करे सो आज कर···!

अपनी बात बिना पूरे किये, आसमान छूता मैं लखनऊ आ गया। अभी सही तरह से लखनऊ में जमा-पहुंचा ही नहीं था कि पीछे-पीछे संदेश आया—दिल्ली बुलाया गया है!

साउथ ब्लॉक!

प्रधानमंत्री का कार्यालय। मुझे याद है, इन्दिराजी मुझसे वहां मिलीं। बोलीं—सुनील, पुनः हम लोगों ने फैसला किया है कि अभी इस बार युवकों को ज्यादा नहीं लड़ायेंगे। वे जो पुराने अनुभवी हैं उन्हें ही पार्लियामेंट में लाना चाहते हैं।

मुझे समझते देर न लगी। बाबू जगजीवन राम और हेमवतीनन्दन बहुगुणा वगैरह ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया था और इन्दिराजी यह समझती थीं कि उचित यही होगा कि पुराने अनुभवियों को ही टिकिट दिया जाये।

बात देश के हित में थी। वह हुई। मेरे लिए बात वहीं समाप्त नहीं हो जाती। यह एक बहुत बड़ा धक्का था मेरे लिए, जिसे झेल पाने में मेरा युवकमन उस पल तैयार नहीं था। कैसी ठेस लगी थी! आंखों में उमड़ आये आंसू मैंने पिये। इन्दिराजी से वह सब छिपा नहीं था।

बैंक!

अभी इस नौकरी में मुझे बहुत कुछ सीखना-करना शायद बाकी था। इन्दिरा जी के साथ चुनाव के अनुभव मन के किसी गहन गहरे में सिमटकर रह गये हैं। बैंक में किये गये काम उन पर हावी हैं।

12 मई 1966!

बैंक की नौकरी का मेरा पहला दिन।

मैंने कहा न, मैं कहीं अधिक भावुक हूं। बाबूजी की भावुकता और निष्ठा ही मेरे पल्ले पड़ी है। तर्क-कुतर्क कोशिश के बावजूद नहीं रस-बस पाता और फेल हो जाता हूं। वैसे ही बाबूजी मुझे बंबड़दास नहीं

पुकारने लगे थे। उन्होंने जरूर मुझमें बंबड़पना देखा होगा। तभी डॉक्टर का ख्वाब ले चला पंछी, सेवा-कार्य, राजनीतिक नेतृत्व न कर पा बैंक की अफसरी संभालने चल पड़ा। बस, कितना अपना 'आपा' और कितना भाग्य का कहा जाये ? यही कह कर मन को मार लूंगा कि भाग्य ने मुझे बंबड़दास बना दिया और उस बंबड़दास ने वहां भी अपने ढंग का बंबड़दासी रास्ता खोज निकाला। इस सब में अपनी कम, बाबूजी की बात, उनकी सीख ज्यादा थी। वे कहा करते थे, जब भी जहां भी मौका मिले हमें सेवा का अवसर निकाल लेना चाहिए। केवल राजनीति के द्वारा ही सेवा का अवसर नहीं मिलता। सेवा करने के अपने तौर-तरीके हैं जिनके द्वारा जन-सेवा का कार्य किया जा सकता है।

इस पर मैं बाबूजी से कहा करता कि बड़े होने पर मैं एक दिन डॉक्टर बनकर दिखाऊंगा सेवा-कार्य किसे कहते हैं। पता नहीं क्यों किस तरह मन में यह भावना घर कर गयी थी। बहुत चेष्टा के बाद भी याद नहीं आता क्यों और कैसे यह बात मन में आयी कि मुझे डॉक्टर बनकर सेवा करनी चाहिए। उस समय डॉक्टर और राजनीति के पेशे में कितना अंतर, क्या फर्क है, वह सब क्या मैं जानता था ? शायद नहीं। अमीर-गरीब क्या होते हैं, उसकी तमीज भी तो मन में नहीं आयी थी। बस एक अनवरत उत्कंठा थी—हम किसी के काम आ सकें। किसी का दुःख बांट उसे हल्का कर सकें। बीमारी दुःख है ! कष्ट है ! कष्ट से मुक्ति ! कभी बचपन में सिद्धार्थ की कहानी पढ़ी थी। कह नहीं सकता सही तरह से कि वह मेरे आदर्श थे। आज जब पीछे सोचता हूं तो पाता हूं शायद वही रहे होंगे। नहीं तो इस तरह की भावना के बीज कहां से मिले। जब आंखें खोलीं तो घर में सब-कुछ था। गरीबी ! निर्धनता ! वह सब मात्र किस्सागोई थी। वे बातें कि अम्मा बाबूजी के जेल चले जाने पर किस तरह गृहस्थी चलातीं ! मेरे बड़े भाई-बहनों का पेट भरतीं ! इन सारी बातों से मेरा सीधा कोई सम्पर्क नहीं स्थापित हुआ था। इतना जरूर हुआ था कि समय-समय बाबूजी आंख में अंगुली डालकर यथार्थ से परिचय कराने की जबरन कोशिश करते थे। उन घटनाओं का जिक्र मैं पहले भी कर चुका हूं। इसलिए कह सकता हूं कि यह मेरा एक रूमानी अंदाज था जो डॉक्टरी का लगाव। सेवा का दिखावा तो नहीं कह

सकते, पर एक ग्लैमर था, जो मुझे खींचता था—गांव की ओर, गरीबों की ओर। और जब वास्तव में गांव पहुंचा तब सामने आया यथार्थ का कड़ुवा सच।

उस समय बचपन में तो यही लगता था कि गांव होगा। वहां होगी मेरी बड़ी-सी डिस्पेंसरी। हमारे देश के अधिकांश लोगों को कहां मिलती है चिकित्सा की सुविधा। मैं बाबूजी से कहता कि मैं अवसर मिला तो नर्सिंग होम बनाऊंगा। वह किसी अति पिछड़े इलाके में होगी। लोगों को मेरे कामों से राहत मिलेगी।

इस तरह की बातें मैं बाबूजी से करता और पाता कि उनकी आंखों में अनोखी चमक जागती है। उस चमक में एक खुशी झलकती है। आज मैं उन आंखों को याद कर उनके भावों को पढ़ने की, पकड़ने की कोशिश करता असफल रह जाता हूं। मैं आज मानता हूं कि उन आंखों की चेतना में, जिसे मैं खुशी की संज्ञा देता या देने की कोशिश करता हूं वे खुशी के नहीं बल्कि कुछ अधिक गहरे रहस्य भरे 'मिस्ट्री' वाले भाव थे जिसे उस पल समझ पाना कठिन था। क्या बाबूजी को मालूम था कि जो कुछ भी मैं कल्पना के जाल सरीखा बुन रहा हूं वह यथार्थ से कहीं कोसों दूर है? मेरी पकड़ से बाहर? शायद हो! तभी उनकी आंखें अधिक रहस्यमय हो उठती थीं—मेरी डॉक्टरी और नर्सिंग होम खोलने की बात पर। बड़ा खेल हुआ। बाबूजी के निधन के साथ मेरी सारी कल्पना, सारी इच्छा मर गयी। उस सोलह साल की छोटी उम्र में ही मैं वयस्क हो उठा था। सारा आगा-पीछा सोचना आरंभ कर दिया था। सारी ऊंच-नीच मन में बैठ गयी थी, लेकिन इस सब के बावजूद नौकरी से तादात्म्य कर पाना कठिन था। आज अगर किसी को इस तरह की नौकरी मिल जाये तो वह कितना खुश होगा, कैसा भाग्यशाली अपने आप को समझेगा, लेकिन एक मैं था जिसे बैंक की एप्रेंटिशशिप मिली थी और मेरी आंखों से आंसू ही नहीं गिर रहे थे, बल्कि मेरा कलेजा भी रो उठा था।

दफ्तर का पहला दिन।

घर छोड़ने, घर से निकलने से पहले अम्मा मुझे बाबूजी के कमरे में ले गयीं। वहां उन्होंने बाबूजी की खड़ाऊं और उनके अस्थिकलश के समक्ष प्रणाम करने को कहा और मैं अपने आप को न रोक सका।

अम्मा से लिपट कर रो पड़ा। मन ने ललकारा—बस इसी बूते पर जूझने निकलने वाले थे। पर मैं मन की भी मानने को तैयार नहीं था। मैं तो अपने भाग्य के लिए रो रहा था। वे सारे सपने क्यों बोये थे भाग्य ने और क्यों वह सारा कुछ मुझसे छीन लिया गया था ?

अम्मा के गले लगा रो रहा था और वे बड़े प्यार से मेरी पीठ थपथपाते मुझे सांत्वना और साहस दे रही थीं। कह रही थीं—बेटे, तूने तो संकल्प लिया था न सेवा का, फिर उसे हर जगह, हर पहलू से पूरा करना होगा। यह तेरी परीक्षा की ही नहीं, अध्ययन और शिक्षा का अवसर है तुझे जीवन से सीखना है। अनुभव लेना है।

मेरी दोनों बहनों और घर के दूसरे लोगों ने गीली आंखों मुझे विदा किया।

वहां दफ्तर में पहले ही दिन से जो स्नेह और सम्मान मुझे साथ के सहयोगियों से मिला, वह सीधे मेरा सम्मान नहीं था। उसमें कहीं बाबूजी का सम्मान और आदर जुड़ा था। मैं दिवंगत प्रधानमंत्री का बेटा हूं। वे, जिन्होंने देश को एक नयी राह दी है और असमय में ही कालकलवित हो गये हैं। उस स्नेह और सम्मान की रक्षा का भार मुझ पर लाद दिया गया था। मुझे यह एहसास पल-प्रतिपल कराया जाता था—यानी मेरे अपनेपन की स्वतंत्रता मुझे नहीं रह गयी थी। मैं जैसा चाहूं वैसा करने को स्वतंत्र नहीं था और कभी मैंने अपनी स्वतंत्रता के तहत कुछ किया या करने की कोशिश की तो तुरंत उसका फल भुगतना पड़ा है। मुझ पर अनचाहे ही अंकुश लगा दिया गया है।

जितने दिन मेरी ट्रेनिंग चली, सच बताऊं, उतने दिनों ट्रेनिंग कम बल्कि बाबूजी के साथ घटी-घटनाओं, उनके साधारण, सादे जीवन के बारे में लोग खोज-खोज कर जानने-सुनने की बातें करते। बार-बार उन घटनाओं को बताने, सुनाने, दोहराने में मुझे कभी किसी तरह का कष्ट नहीं अनुभव हुआ, बल्कि पुनः-पुनः वर्णन करते उन तथ्यों के नये अर्थ खुलने लगे। चूंकि ईश्वर की दी बुद्धि की कुशाग्रता ऐसी है कि बात एक बार ही मन में उतर आती है, कंठस्थ हो जाती है अतः अधिकारियों को ऑफिस के रुटीन कामों के बारे में एक बार से अधिक बताने की आवश्यकता ही कभी नहीं पड़ी। जिन कामों को जानने-समझने में औरों को चार दिन लगते थे, उसके लिए मुझे चार घण्टे से

अधिक समय कभी लगा ही नहीं। इसलिए समय की कमी मैंने कभी महसूस ही नहीं की। हां, यह जरूर हुआ कि जल्द काम निबटाने की वजह से मुझे औरों के काम के बोझ को भी वहन करना पड़ा। आदतन वह सब मैंने बिना किसी उज्र के स्वीकार किया।

जल्दी ही यह अनुभव भी घर करने लगा कि यह सारा काम-काजी क्षेत्र बहुत छोटा है, सीमित है। मुझे एक बड़े परिवेश की तलाश करनी होगी। इस बंधी-बंधाई जिंदगी से निकलना होगा। मुक्ति पानी होगी।

मुक्ति की तलाश साधारण नहीं होती। जीवन में शॉट-कट नहीं होता। सारी लगन, सारी चेष्टा के बावजूद अगर कोई कमी रास्ते में आती थी तो वह थी उम्र। उम्र ऐसी नहीं थी कि लोग जोखिम का भार मेरे कंधे पर डालते। सभी कहते—अभी बड़ी कच्ची उम्र का है सुनील! और मेरे लिए सभी कुछ पर इतिश्री लग जाती। इस 'दि एंड', इस इतिश्री से छुटकारा पाने की राह बड़ी ही भयावह और दुखदायी रही है।

याद होगा आपको भी वह 19 जुलाई, 1969 का दिन जब प्रधान-मंत्री इन्दिरा गांधी ने देश के बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाने की घोषणा की। बैंक जो कल तक कुछ लोगों की सम्पत्ति थे, कुछ लोगों को ही उससे सीधा लाभ होता था, या कि सीधे वे ही लोग उससे लाभ उठा पाते थे जिनके पास बैंक का कंट्रोल था, वह आज खत्म हो गया।

मेरे कार्यालय में एक पत्रकार बंधु आये। उन्होंने जाने कैसे या क्यूं औरों के साथ मुझसे भी बातचीत की और पूछा—बैंकों के राष्ट्रीय-करण पर आपके विचार क्या हैं? आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

मेरा बैंक भी उन बैंकों में से एक था जिनका राष्ट्रीयकरण हुआ था। राष्ट्रीयकरण की सफलता के सम्बन्ध में लोग तरह-तरह की अटकलें लगा रहे थे। उस पल किसे विदित था कि इसका कितना व्यापक असर होगा? फिर भी वह सब उस समय, उस उम्र में न जानते हुए भी मेरे मन में अपने आप एक प्रतिक्रिया उठी, कहा—जो पूंजी अब तक कुछ गिने-चुने हाथों में थी वह अब जन-जन तक लोगों में पहुंच सकेगी। जो सपना हमारे प्रधानमंत्री का है वह अवश्य फली-भूत होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

सन् 1971 दिसंबर का महीना। कल तक मैं कनाटप्लेस की शाखा में एकाउन्टेंट के पद पर था कि मुझे उत्तर प्रदेश के एक छोटे-से कस्बे काकोरी में ब्रांच मैनेजर बनाकर भेज दिया गया। उस पल अपनी इस नियुक्ति को मैंने उस दृष्टिकोण से नहीं लिया था जैसा वहां पहुंचने के बाद अनुभव हुआ।

समय आपको क्या नहीं सिखा देता। काकोरी, एक कस्बा, एक पिछड़ा हुआ देहाती इलाका। दिल्ली छोड़ने का, सबसे कट जाने की द्विविधा !

निकटता से गांव का परिचय। वह जो एक रोमांटिक लगाव था वह यथार्थ की कड़ी चट्टान पर जब जीने की बारी आयी तब आटे-दाल का भाव मालूम पड़ा। निर्धनता और पिछड़ेपन को किताबों में पढ़कर या सुन-सुनाकर नहीं जिया या समझा जा सकता। सच कहूं, आरम्भ में मुझमें एक पलायन की प्रवृत्ति चिपक गयी थी। फलस्वरूप लखनऊ से 15-16 किलोमीटर की यात्रा हर रोज होने लगी। जरा-सा अवसर आया कि हम लखनऊ में हाजिर हैं।

एक दिन गाड़ी छूट गयी, लखनऊ न जा सका। मन मारकर वापस लौट आया और उदास, समय काटने के लिए घूमता रहा कि यूं ही एक पेड़ के नीचे रुका और एक चटखना-सा लगा। लगा जैसे यह पगडंडी, ये खेत, ये जो अपने चारों ओर हैं वे मुझसे बातें करते अपनी ओर खींच रहे हैं। उन सबको, जिसे पराया समझ अलग-थलग जी रहा था, उन सबके साथ अपने को एडजस्ट नहीं कर पा रहा था वे आज एक पल में एक नया अर्थ लिये सामने खड़े हैं।

याद आया, जब बाबूजी की आज्ञा से मैं भोपाल के पिछड़े इलाके में गया था और बाबू जी ताशकंद चले गये थे—उस पल भी तो मैं गांव में था। इससे कहीं ज्यादा, कहीं अधिक पिछड़े इलाके में—उस समय गांव वालों से की बातें, उनसे किये गये वादे—क्या हो गया उन सबका !

सटाक-सटाक जैसे कोई बेंत से उधेड़ रहा था। तुम्हें यों ही जबरन सजा देकर यहां नहीं भेजा गया है काकोरी में !

बचपन में ये नाम तो सुना है सुनील, तुम्हारा ? मन के इस अचानक किये गये प्रश्न पर याद आया : अरे हां, बाबूजी कभी काकोरी डकैती की बात करते रहे हैं। ट्रेन की डकैती। अंग्रेजों का खजाना लुटा था

यहां कहीं। ये तो वही काकोरी है क्या ?

मन में आरा मशीन-सा द्वंद्व चल पड़ा।

मैंने कहा न, हर जीवन के मोड़ का कोई-न-कोई गहन अर्थ होता है और आज अचानक ऊहा-पोह में मन ने एक नया आयाम खोल दिया।

कल तक जिन लोगों को गांव का पिछड़ा मानकर मैं अपने को बचाता, अफसर बना फिर रहा था वह दूरी अपने आप टूट गयी थी। लगने लगा जैसे ये सारे अपने परिचित हैं। जन्म-जन्मांतर के परिचित। एकदम अपने !

यह जो सामने पगडण्डी दिखती है, उसकी धूल जैसे उठाकर सिर-माथे पर लगा लेने की इच्छा जागी। वह जो महिला सिर पर घड़ा रखकर आती दिखी, वह केवल महिला ही नहीं रह गयी थी, वह उस सारे कुछ का एक अभिन्न अंग थी और मैं बजाय घर लौटने के गांव के सरगना कॉमिल खां से मिलने गया। वे टाउन एरिया के अध्यक्ष थे।

कामिल खां साहब मोहम्मद सब्बीर साहब के पास ले गये। उन दोनों को आश्चर्य था कि मैं वह पुराने पचड़े क्यों उखाड़ रहा हूं जिसके बारे में अब कोई जानना-सुनना नहीं चाहता। वे टाल जाना चाहते थे। लेकिन मेरी उतावली, उत्कंठा से वे पार नहीं पा सके। उस जगह ले गये जहां रेलवे लाइन के पास एक मिट्टी का ढूह खड़ा है। बोले—लो, देख लो, यही है काकोरी की अनोखी विरासत, यहां ट्रेन को लूटा गया सरकारी खजाने का बक्सा रखा गया था, उन सिरफिरे आजादी के दीवानों के द्वारा। लोग इस जगह को भूल न जायें, हमने बरसों पहले इसे मिट्टी के ढूह से ऊंचा कर दिया है। पर जनाब, आप ही पहले स्वतन्त्रता सेनानी के बेटे हैं और इसे खोजते हुए यहां तक आये हैं।

मैं अपनी प्रशस्ति सुनने तो वहां तक नहीं आया था। उन्हें चुप करा दिया और आगे बढ़ उस ढूह पर सिर रख दिया अपना। जैसे वह पल, वह इतिहास मेरा अपना हो उठा था, मैंने वह सब जिया।

एक चुनौती मन में खड़ी हुई ! प्रश्न उठा, तुम इसके लिए क्या कर सकते हो, सुनील ? और जवाब बना : मैं ! मैं क्या कर सकता हूं। यहां रहा तो इसे ईंट का पक्का निशान-सा बनाऊंगा।

कहने का मतलब सिर्फ इतना कि काकोरी जैसे खून में रस-बस गया और समय की मार देखिए, जब राजनीति में आया तो 1983 में प्रधानमंत्री इन्दिरा जी को वहां ले जाकर एक मेमोरियल का शिला-

न्यास करवाया।

आप भी आश्चर्यचकित होते वहां-जाकर—इतना बड़ा कांड, एक ऐसा ऐतिहासिक क्षण जिसने सारे देश को हिला दिया उसकी स्मृति में स्वतन्त्र भारत में एक मिट्टी का ढूह खड़ा था—और कुछ नहीं।

कुछ और करना होगा।

सोमवार। बैंक खुला। मैंने रजिस्टर पलटे। पाया हम जिसके, जिनके लिए यहां भेजे गये हैं क्या उन सबके काम आ रहे हैं?

ढूह के सामने खड़े होकर जो संकल्प मन में जनमा था, उसके फलस्वरूप कल के देखे-मिले लोग—राज, कल्लू, कैलाश, दिनेश—सब एक नये अर्थ लिये सामने दिखे और उस ग्रामीण अंचल ने जैसे मुझे अपने आप में आत्मसात कर लिया था। उस सबसे क्या वहां से चले आने के बाद भी उनसे मुक्ति पायी जा सकती है? नहीं, शायद कभी नहीं. इस जीवन में क्या अगले जीवन में, जन्म-जन्मान्तर कभी नहीं, यदि आप अवतारवाद पर विश्वास रखते हैं, और मैं भी रखता हूं।

काकोरी की नियुक्ति मेरे लिए कई मानों में एक बहुत बड़ा उपहार था। एक पल में बाबूजी के नारे 'जय जवान, जय किसान' ने सही घर बना लिया था। राष्ट्रीयकृत बैंक का प्रबन्धक, किसानों की जय-जयकार करने वाले का पुत्र—उसके लिए अवसर था—फसली ऋण, बैलों की जोड़ी के लिए ऋण, पंपसेट के लिए ऋण।

सीधे-सादे लोग कागज-पत्तर से डरते हैं। बैंक में जाने से डरते हैं फिर भला ऋण लेने, बैंक से सेवा लेने क्यों और कौन आता? बैंक को वहां जा, उन्हें समझाना चाहिए, उनके अधिकार को बताना चाहिए।

आप प्रबन्धक हैं तो क्या हुआ, गांव में मोटर-गाड़ी नहीं चल सकती। आपको पैदल जाना होगा। ज्यादा-से-ज्यादा आप अगर किसी वाहन का उपयोग कर सकते हैं तो वह है साइकिल का। साइकिल भी उनके दृष्टिकोण से बड़ी चीज है और आदमी को आदमी से अलग करती है। इसलिए उनका अपना बनने के लिए आपको उनकी ही तरह उनके पास जाना चाहिए। गांव ने मुझे यही सिखाया।

मैंने सीखा, रामअवध के पास जा उससे परिचय पा, उसे अपना कैसे बनाया जा सकता है। गांव वाले बड़े अनोखे लोग हैं।' वे अपनी-सी पर आ जायें तो आप यह अन्दाज नहीं लगा सकते कि उनका सच है? वे हर गैरत में जीना चाहते हैं। बस कह देते हैं—कोउ नृप

होय हमैं का हानी ! और हर दशा में अपनी-सी चलाते जाते हैं, उसमें भी हंसते, मौज से जिंदा हैं। इस सबके चलते मेरी क्या बिसात थी कि मैं रामअवध के काम का बन सकता या उसे अपना बना, उसकी मदद कर सकने का अवसर पा सकता।

उसने अपनी जमीन गिरवी रख छोड़ी थी। बैल भी गिरवी थे उसके। उसे वहां से उबारना था। बैंक का ऐसा मैंडेट था और मैंने वहां रहकर जो सीखा, जो अनुभव किया सक्रिय राजनीति में आने पर वह सारा कुछ स्कूल में पढ़े पाठ की तरह काम आया। इसलिए लाख-लाख शुक्र है उस ईश्वर का जिसने जीवन ही नहीं दिया, अवसर भी। हमारा फर्ज बनता है उस अवसर से लाभ उठाने और विरासत में पाये दायज को आगे बढ़ाने का।

बाबूजी ने पंडित नेहरू से पायी विरासत को ठोस जमीन प्रदान की उसे आगे बढाया और सौंप गये आने वाले लोगों को, वह सारा कुछ जो एक बुलंदी में बदल गया।

मेरी यात्रा उसी बुलंदी की खोज है और उसे पाने के लिए मैं बंधे-कसे जीवन से बेजार होकर यदि बाहर आया तो वह कोरी प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि मेरे सामने बड़ों का दिखाया मार्ग है, और अब तक आप परिचित हो चुके हैं कि वह मुझे किस तरह विरासत में मिला है।

काश ! बाबूजी ने ताशकन्द जाने से पहले मुझे अपना निजी काम न सौंपा होता, न कहा होता कि 'आप यदि दस हजार रुपये भी इकट्ठा कर लायेंगे अपनी मध्य प्रदेश, पिछड़े इलाकों की, यात्रा के बीच तो हम आपकी काफी तारीफ करेंगे' तो शायद मुझमें उनका वह पानी नहीं चढा होता ! काश, वह परची जो मैंने उनकी समाधि से न उठाई होती या उस तरह चुनाव में जाने से पूर्व अम्मा मुझे वहां समाधि-स्थल पर न ले गई होतीं या कि अम्मा ने यह न कहा होता कि जब भी मैं कठिनाई में होती हूं तो तुम्हारे बाबूजी से जवाब पूछती हूं—वह सारा कुछ मेरे शरीर में, मेरे खून में रस-बस गया है और मेरी यह बलवती इच्छा कि मैं औरों के काम आ सकूं, मुझे मजबूर करती है कि मैं अपनी कमजोरियों को अपने मन की यात्रा को आपके साथ बांटकर जिऊं—आप मेरी इस यात्रा के साक्षी हैं। मेरी शक्ति जनता की शक्ति है और उससे मुंह मोड़ना सम्भव नहीं।

फिर आज की आपाधापी में जब कि मेरे अधिकांश साथियों ने

पद की घिनौनी होड़ में अपना सब कुछ ताक पर रख दिया और मुझसे भी यह आशा ही नहीं रखने लगे, बल्कि खींच-खांचकर मुझे भी अपनी तरह बना डालने पर अमादा हो गए तो मैंने पाया, बाबूजी मेरे सहारे के लिए खड़े हैं।

मैं लखनऊ से भागकर दिल्ली आया था। अपनी व्यथा-गाथा को घर में सभी के सामने रखा और तभी उस शाम मैं पुनः बाबूजी की समाधि पर था। और कोई बात स्पष्ट नहीं हो रही थी— मैंने अपना सिर समाधि के पत्थर पर डाल रखा था। जाने कितनी देर उसी अवस्था में अपने से लड़ता-जूझता रहा।

जब इन्दिराजी ने गोरखपुर से नामांकन की आज्ञा दे दी थी तब भी इसी तरह से यहां आया था। उस दिन से आज का दिन कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं था।

काफी देर बाद जब मैंने सिर उठाया तो पाया, वहां समाधि-स्थल पर पड़ी फूलों की एक पंखुड़ी मेरे माथे पर चिपकी है। मैंने लौटकर मीरा से उस चिपकी गुलाब की पंखुड़ी का अर्थ बांटना चाहा और उसने भी यही कहा ! यह पंखुड़ी आपके लिए बाबूजी का आशीर्वाद है। उस पंखुड़ी को मैंने अपने पर्स में रख लिया और लखनऊ आ मैंने अपना इस्तीफा लिख भेज दिया है। इस संकल्प का जामा बाबूजी अपने हाथों मुझे ताशकंद जाने से पूर्व पहना गए थे और फिर उनसे कभी मुलाकात न हो सकी—मैं उनका लेखा-जोखा नहीं दे सका—इसलिए उनसे किये वादे पर खरा उतरने के लिए मुझे आप सबका सहयोग आप सब का सौहार्द्र चाहिए।

मेरा अपना क्या है ! दो वक्त की रोटी के लिए तो यह सब नहीं किया है मैंने। मेरा जो कुछ भी था या है, वह जन-मानस को समर्पित है और उस समर्पण के पीछे रचनात्मकता ही मेरा मूल है। पल-प्रतिपल रचनात्मक रह सकूं, इसके लिए जो भी बलि देनी पड़े, जो भी त्याग करना पड़े, मैं अपने को तैयार कर सकूं यही मेरा अर्थ है, यही मेरा धर्म, यही मेरा सम—यह मूल मंत्र मुझे बाबूजी से मिला है—लाल बहादुर शास्त्री—मेरे बाबूजी ! उस विशाल परिवार के बाबूजी, जिसका मैं भी एक बेटा हूं ! मुझे स्वीकारें !!

□

इतिहास   गाधीजी को समर्पित जीवन।

चिंतन   बात की तह, सिरे की तलाश।

पंडित जी . उत्तराधिकार का उत्तरदायित्व।

सरलता : एक उदाहरण।

कदम : सधे और गहरे।

सादगी : सहयोगियो के बीच।

वैभव · बात की गहराई तक जाने की कोशिश।

विनम्र जन-जन तक पहुंचे विज्ञान।

होली काश! वह साल के सभी दिन आती।

मत्र चरैवेति-चरैवेति
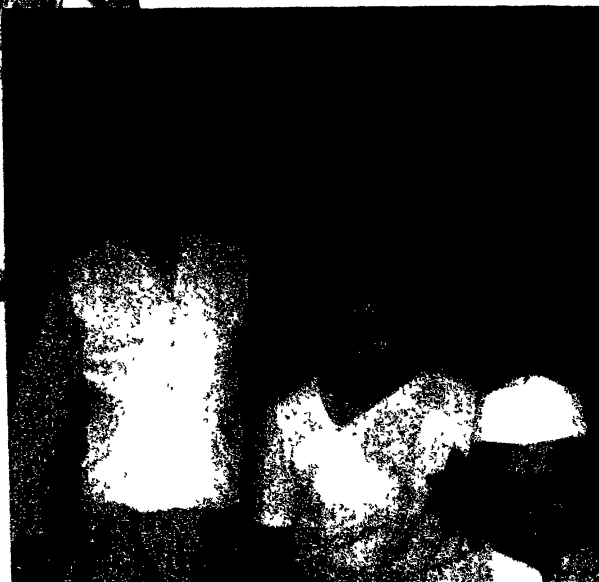
पूजा जीवन का प्रतीक।

सलामी   राष्ट्र को समर्पित।

एक घटना   अनहोनी के बाद।

बर्मा   पडोसी-मिलन।

देश   साधारण से लगाव।

स्नेहोपहार   परिवार का।

सार्थकता मैं और मेरे बाबूजी।
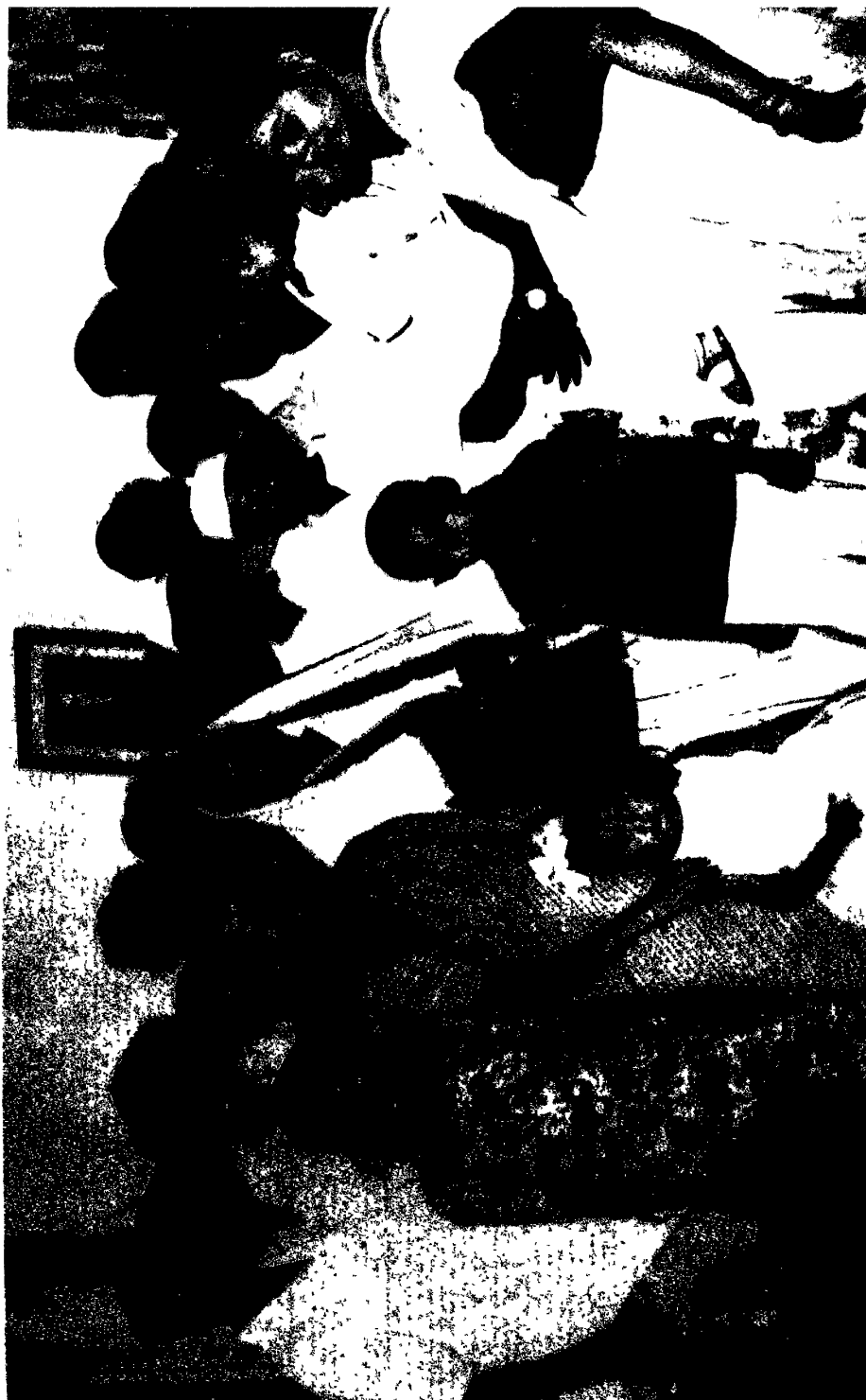
मधुरता घर-परिवार के साथ।

लघुता में प्रभुता . मेरे कैमरे से बाबूजी।

लघुता में प्रभुता : मेरे कैमरे से बाबूजी।

वात्सल्य : न लौट आने वाला दिन।

उनकी लगाई बेल : विभोर, विनम्र, वैभव और

हम तीनों मेरे प्रेरणा-स्रोत और मेरी पूज्य मां।

हम सब उनके बिन